कुछ भी नहीं

[कहानी संग्रह]

व्रजेश दवे

कुछ भी नहीं



व्रजेश दवे

कुछ भी नहीं

[कहानी संग्रह]

व्रजेश दवे

समर्पित

आप सभी को।

कुछ तो है

‘कुछ भी नहीं’।

यह मेरा प्रथम हिन्दी कहानी संग्रह है। कहानी लिखना मेरे लिए सहज नहीं था। मैं कहानी लिख ही नहीं सकता था। क्यों कि अब तक मैं पाँच उपन्यास लिख चुका हूँ-

1] हिम स्पर्श, 2] द्वारावति 3] अंतर्निहित। [तीनों हिन्दी में]

4] the sound of solitude [अंग्रेजी]

5] एक पतंगियाने पांखो आवी [गुजराती]

उपन्यास के ढांचे में मैं ढल चुका हूँ। अत: मेरे लिए कहानी के ढांचे में ढलना बड़ा कठिन था। सीमित शब्द, सीमित घटना और सीमित अवकाश। मेरे असीम विचारों को मैं इन सीमाओं में बांध ही नहीं सकता। तथापि मैंने यह दु:साहस किया है। मेरे इस दु:साहस को क्षमा करने या न करने का आपका अधिकार अबाधित रखते हुए यह कहानी संग्रह मैं आपके समक्ष रख रहा हूँ।

इसमें कुल आठ कहानियाँ हैं। आठों कहानियों में मैंने स्वयं को सीमाओं में बांधने का प्रयास किया है। अपनी यह सीमा को मैं स्वीकार करता हूँ। और आपके प्रतिभावों की अपेक्षा भी करता हूँ। आप मुझे अपने प्रतिभाव अवश्य भेजें।

आपका।

व्रजेश दवे 08/12/2025 Toronto, Canada.

प्रकाशक-

व्रजेश दवे

कर्णावती

गुजरात

भारत 380052

91 95108 45218

Dave.vrajesh@gmail.com

कुछ भी नहीं
[कहानी संग्रह]
व्रजहस दवे

कहानी सूची -

[1]

निर्गमन

अपनी शैया पर दूसरी तरफ मुड़ने के प्रयास में माँ के मुख से चीख निकल आई। कोई असह्य शारीरिक पीड़ा हो रही थी वह उनकी चीख से स्पष्ट प्रकट हो रहा था। पूरा शरीर कृष हो चुका था। शरीर में कुछ भी चेतन शेष न था। तथापि मृत्यु नहीं आ रही थी। जीवन और मृत्यु के संगम स्थान पर शरीर और आत्मा खड़े थे। शरीर के भीतर बसा आत्मा हाथ पकड़कर शरीर को चिपक गया हो ऐसे शरीर को छोड़ने का नाम ही नहीं ले रहा था। आत्मा जानता था कि जब तक वह इस शरीर को त्यागेगा नहीं, और यह शरीर में रहेगा तब तक यह शरीर को कष्ट होता रहेगा। वेदना होती राहगी। पीड़ा भोगता रहेगा।
किन्तु, आत्मा कौनसी हठ किए था कि यह सब देखते हुए, यह सब जानते हुए भी शरीर के भीतर बसा रहा है? जाने का नाम नहीं ले रहा है। यदि आत्मा शरीर को त्याग दे तो शरीर के सभी कष्ट समाप्त हो जाएंगे। किन्तु, आत्मा?
अंतिम सांस ले रही माता के चरणों में बैठे हुए वह विचार रहा था। उसे कुछ समज नहीं आ रहा था कि आत्मा गति क्यों नहीं कर रहा? आत्मा का स्वभाव है संसरण का। तो वह यहाँ क्यों स्थिर सा, जड़ सा हो गया है?
वह इसे समजने का प्रयास करता। दर्शन शस्त्र के ग्रंथ पढ़ता। किन्तु कहीं भी उसे उत्तर नहीं मिलता। आठ आठ महीने का समय बित गया है। इस समय में लगभग रोज ऐसा लगता कि बस अभी आत्मा छूट जाएगा और शरीर सभी पीड़ाओं से मुक्त हो जाएगा। आत्मा संकेत देता रहेता किन्तु गति नहीं कर रहा था।
शरीर को कोई भी उपाय काम नहीं आ रहा है। मेरे और विश्व के सभी उच्चतम मेडिकल विज्ञान की सीमा आ चुकी है किंतु माँ का उपचार कहीं नहीं हो पा रहा है।
और नहीं दिख रहा आत्मा की गति का मार्ग, किसी भी ज्ञान के शास्त्रों में भी।
यह पीड़ा क्या माँ को अनंत काल तक साहनी पड़ेगी?
अब कौन सी आशा, कौन सा मोह, कौन सा बंधन बचा है कि प्राण नहीं निकल रहे? शास्त्र कहते हैं कि मृत्यु शैया पर पड़े व्यक्ति का जीव किसी व्यक्ति, किसी वस्तु अथवा किसी बात में रहा हो तो प्राण त्यागना कठिन हो जाता है।
किन्तु माँ ने तो सब कुछ भोग लिया है। सब आशाएं, अपेक्षाएं पूरी कर ली हैं। और मोह तो उसे जीवन में कभी किसी बात का रहा ही नहीं।
तो क्या कारण होगा?
उसके विचार अविरत चल रहे थे।

माँ की पीड़ा को देखकर मन होता है कि जीवन टीका रहे यह सभी साधनों को माँ के शरीर से दूर कर दूँ। सभी स्विच बंद कर दूँ। तो क्षणभर में ही माँ का देह छूट जाएगा। सभी कष्टों से मुक्त हो जाएगा। किन्तु मैं ऐसा कैसे कर सकता हूँ? यह मेरी माँ है। ऐसा करूँ तो तो वह माँ की हत्या ही होगी ना? कोई पुत्र अपनी माँ की हत्या करेगा क्या? और मैं तो डॉक्टर भी हूँ। किसी अज्ञात रोगी की भी ऐसे हत्या नहीं कर सकता। तो यह तो मेरी अपनी माँ है।

उसने नकार में सिर हिलाया। नहीं, मैं ऐसा नहीं करूंगा।

तो माँ की पीड़ा का क्या?

हत्या कोई उपाय नहीं है। मैं डॉक्टर भी हूँ और पुत्र भी। मुझसे यह नहीं हो पाएगा।

तो माँ के प्राण त्याग तक उनके कष्ट को देखने का साहस रखना।

इतने समय से तो रखा है।

किन्तु अब तेरा साहस और तेरा धैर्य दोनों विलीन हो गए हैं।

तेरी बात कदाचित सत्य होगी।

बह मौन हो गया। आँखें बंद कर बैठा रहा।

कुछ क्षण ही बीते होंगे तभी सभी मशीनों की बीप बीप ध्वनि एक एक कर शांत होने लगी। क्षणभर में ही सभी मशीनों की ध्वनि बंद हो गई। एक अज्ञात शांति व्याप्त हो गई। उस शांति में माँ की चीख भी विलीन हो गई। अब न तो मशीनों की ध्वनि थी न ही माँ की पीड़ाकारी चीख। सब शांत। सब मौन। सब स्थिर।

ऐसी स्थिरता का पिछले आठ महीने में उसने नहीं अनुभव किया था। वह सहसा जागृत हो गया। आँखें खोलकर मशीनों को देखा।

सभी मशीन नियम अनुसार चल रहे थे। वही परिचित बीप बीप की ध्वनि मशीनों में से आ रही थी। मशीन के पटल पर सभी आवश्यक आँकड़े प्रदर्शित हो रहे थे।

उसने माँ को देखा। माँ की सांस चल रही थी। पीड़ा माँ की चीख के माध्यम से अपनी उपस्थिति प्रकट कर रही थी। उसने गहन सांस ली। दो चार बार पलकें झपकाई। उठकर खड़ा हो गया। पुन: बैठ गया।

“हाश!” वह अनायास ही बोल पड़ा। वह ध्यान से बीप बीप ध्वनि को सुनता रहा।

आज पहेली बार उसे मशीनों की ध्वनि कर्कश के बदले अच्छी लगी।

वह पुन: बोला। “हाश!” उसके मुख पर संतोष था।

उसी समय नर्स ने प्रवेश किया। उसने माँ के कक्ष की खिड़कि खोल दी। एक टुकड़ा प्रकाश और ढेर सारी हवा कक्ष में प्रवेश कर गई।

डॉक्टर के मुख के भावों को देखकर नर्स ने पूछा, “कोई सकारात्मक संकेत है?”

“क्यों?” डॉक्टर ने पूछा।

“आपके मुख के रोज के थकान और चिंता के स्थायी भाव आज अदृश्य हैं। क्या बात है?”

“ओ...ह! ऐसा है क्या?”

“हाँ।”

“वैसे तो कोई सकारात्मक संकेत नहीं है किन्तु मन आज क्षुब्ध नहीं है।”

“ऐसा क्यों?”

“अभी तुम आई उससे पूर्व ही मैं यही बैठा था, आँखें बंद थी तभी मुझे आभास हुआ कि सभी मशीन बंद हो गए हैं, माँ की चीख भी। मैं डर गया।”

“आप डर क्यों गए? आप ही तो चाहते हो कि माँ कष्ट से मुक्त हो जाए।”

“हाँ। चाहता हूँ किन्तु माँ की मृत्यु नहीं चाहता हूँ।”

“आप जानते ही हो कि जीवन रहेगा तब तक कष्ट रहेगा, पीड़ा रहेगी।”

“तो क्या? मृत्यु को स्वीकार कर लूँ?”

“किन्तु माँ तो अभी जी रही है न?”

“बस यही बात मैंने आँखें खोली तो दिखी। इसी लिए मन चिंतित नहीं है।”

“अर्थात आपने माँ की पीड़ा का स्वीकार कर लिया है, हैं न?”

“वह मेरी विवशता है। कितना लाचार है यह विश्व प्रसिद्ध डॉक्टर?” उसने नि:श्वास छोड़ा।

नर्स ने माँ की तरफ देखा। माँ की आँखें खुली थी। चीखता हुआ मुख भी।

“माँ की आँखें देखिए, आज इनमें कोई नवीन तेज दिख रहा है।”

“क्या?” डॉक्टर विचलित हो गए। खड़े होकर उसने माँ की आँखों में देखा।

“हाँ। तुम ठीक कह रही हो। कोई नूतन तेज है इन आँखों में। कैसा होगा यह तेज?”

“माँ को पीड़ा है किन्तु उनकी सभी इंद्रियाँ अभी भी जागृत हैं।”

“तो?”

“हमारी सभी बातें माँ ने सुनी हैं। समजी हैं। अनुभव भी की हैं। हो सकता है यह उसीका तेज हो।”

“क्या अर्थ है इनका?”

“माँ की पीड़ा से आप दुखी होते थे तो माँ की पीड़ा भी बढ़ जाती थी।”

“क्या?”

“कोई माँ अपने पुत्र के दुख से दुखी ना हो ऐसा हो सकता है क्या? किन्तु आज आपने माँ की पीड़ा का सहज स्वीकार कर लिया है यह जानकार माँ आपकी चिंता से मुक्त हो गई है। उसीका यह तेज है।”

“उपचार करते करते तुम रोगियों की आँखों को भी पढ़ लेती हो?”

“हाँ जी। रोगी जो बातें डॉक्टर से नहीं कहता या कह नहीं पाता है वह सभी बातें वह हमसे, नर्स से कहता है। तभी तो हम उनकी आँखें पढ़ना सिख लेती हैं। कई बातें हम यूं ही उनकी आँखों में पड लेती हैं। जहां तक संभव हो उनकी इच्छाओं को भी पूरा करती हैं। आप डॉक्टर उपचार कर सकते हो, कभी नहीं भी कर सकते हो किन्तु आँखें पढ़ना आप नहीं जानते।”

“ऐसी बात है?”

“नहीं तो?”

“तो मेरा एक काम कर सकोगी?”

“कहो, करूंगी।”

“मैं लंबे समय से माँ की आँखें देख रहा हूँ। मुझे लगता है कि माँ कुछ कहना चाहती है। किन्तु कह नहीं पा रही है। मैंने कई बार उनसे पूछा किन्तु उन्होंने संकेतों से नकार दिया है। तो माँ की आँखें पढ़कर कहो कि उनमें क्या है?”

“मैं प्रयास करती हूँ।” नर्स माँ की समीप गई। माँ की आँखों में आँखें डालकर ध्यान से देखने लगी। उसकी दृष्टि माँ की आँखों में स्थिर हो गई। माँ भी नर्स की आँखों में देखने लगी। दोनों के मध्य एक प्रवाह बहने लगा। उस प्रवाह में दोनों बहने लगे।

थोड़े समय के पश्चात नर्स के होंठों पर एक स्मित स्वत: प्रकट हो गया। वह स्मित प्रवाहित होकर माँ तक गया। माँ की आँख में तेज आ गया। नर्स ने आँखों से प्रश्न किया। माँ ने आँखों के भाव से ही उत्तर दिया। नर्स ने हकार में पलकें झपकाई। माँ ने भी वही संकेत दिया। माँ को एक मधुर एवं रोचक स्मित देकर नर्स वहाँ से हट गई।

डॉक्टर अधीरता से नर्स को देखने लगा। उसके शब्दों की प्रतीक्षा करने लगा। नर्स ने पल भर का समय लिया। पानी पिया। गले को साफ किया।

“कहो, माँ ने क्या कहा?”

“यदि हिम्मत हो तो कहूँ?”

“कोई गंभीर बात है क्या?”

“वह सब बाद में, हिम्मत है या नहीं वह कहो।”

“मैं प्रयास करूंगा। जो भी हो कहो।”

“माँ को कुछ भी नहीं कहना है।”

“तो?”

“माँ अनुमति मांग रही है, जाने की अनुमति।”

“किसकी अनुमति? कैसी अनुमति?”

“आपकी, महाशय आपकी।”

“मेरी?”

“हाँ, आपकी।”

“कुछ भी समझ नहीं आ रहा।”

“तो सुनो। आपको भ्रम है कि माँ का जीव किसी बात में, वस्तु में अथवा व्यक्ति में अटका हुआ है। और यही मोह आत्मा की गति में अवरोध है। हैं न?”

डॉक्टर ने प्रश्न भरी दृष्टि से नर्स की तरफ देखा।

“किन्तु आप मान रहे हो ऐसा नहीं है।” नर्स ने कहा।

“तो क्या बात है?”

“मोह तो आपको है तभी तो माँ पीड़ा सह रही है।”

“मोह? मुझे? दुनिया का ज्ञान कहता है कि जाने वाले को मोह होता है, छोड़ने वाले को होता है, छोड़ के जाने वाले को होता है।”

“वह सब ज्ञान अधूरे हैं।”

“पूर्ण ज्ञान क्या है?”

“वास्तव में जब से जाने वाले ने जाने का निर्णय कर लिया होता है तब से उसने सारे बंधनों को तोड़ डाला होता है। सभी मोह को त्याग दिया होता है। उसके बाद ही जाने की तैयारी करता है। जब तक जाने का पक्का निरधार नहीं कर लेता, जब तक मोह माया से पूर्ण रूप से मुक्त नहीं हो जाता तब तक वह जाने का निश्चय या जाने की तैयारी नहीं कर सकता।”

“माँ ने सब कर लिया है?” डॉक्टर ने पूछा।

“हाँ। आठ महिना पूर्व ही।”

“तो क्या बाकी रह गया है?”

“जिसको छोड़ कर जाना है उसकी सम्मति, उसकी खुशी। उसके मोह की मुक्ति, माया की मुक्ति, बंधनों से मुक्ति। जाने वाले से अधिक मोहग्रस्त रुकने वाला होता है। उसे कुछ छूट जाने का, पुन: प्राप्त न होने का भय होता है। इसीलिए वह सरलता से बंधनों को तोड़ नहीं सकता। यह बंधन ही समस्या है।”

“अर्थात मैं मोहग्रस्त हो गया हूँ? माँ की आत्मा की गति में मैं बाधा बन गया हूँ?”

“हाँ। तभी तो पुत्र मोह वश माँ इतनी दैहिक पीड़ाओं को सह रही है, इतने लबे समय से।”

“मेरे मोह की बात मेरे गले नहीं उतर रही।”

डॉक्टर के शब्द सुन नर्स ने डॉक्टर की आँखों में आँखें डाली, एक स्मित दिया। उस स्मित में नर्स की विजय और अपने तर्क की पराजय डॉक्टर ने देखी। धैर्य के साथ वह नर्स के मुख को देखते रहे।

“आपने एक बात एक बार सब को कही थी।”

“कौन सी बात?”

“पढ़ाई के लिए आप विदेश जाना चाहते थे वह बात।”

“हाँ, स्मरण है किन्तु इसका इस समय क्या है?”

“तो आपको यह भी स्मरण होगा कि उस समय की परिस्थिति अभी की परिस्थिति से उलटी थी। आप जानेवाले थे और माँ रुक जाने वाली थी।”

“हाँ, सत्य है।”

“तब जब आपने जाने का निश्चय किया था तभी जाने की पूरी तैयारी कर ली थी। फिर भी आप चाहते थे कि माँ आपको खुशी खुशी जाने दे। उस समय माँ पुत्र मोह में थीं। उसी मोह के कारण आपका जाना कठिन हो गया था। ठीक है न?”

“सही है। किन्तु बाद में माँ ने अनुमति दी ही थी न?”

“इसी लिए आप सरलता से गमन कर सके थे।”

“हाँ। मन बोज मुक्त हो गया था तभी गमन संभव हो सका था।”

“बस, आज माँ भी यही चाहती है। आज पुन: वही स्थिति आ कर खड़ी है। अंतर इतना ही है कि दोनों के स्थान, दोनों की भूमिका बदल गई है।”

“किन्तु .. मैं .. ऐसे कैसे अनुमति दे दूँ? कोई पुत्र अपनी माता की मृत्यु माँगता है क्या?”

“माँ ने तब जो किया था वही करने की अब आपकी बारी है। पुत्र का विदेश गमन भी माँ के किए उतना ही कठिन होता है फिर भी ..।”

“बस। बस। मैं ऐसा नहीं कर सकता। मैं ऐसा नहीं करूंगा।”

“तब तो भोगनी पड़ेगी पीड़ा, दोनों को।”

“तो मैं क्या करूँ?”

“माँ से ही पूछ लेते हैं। चलो।”

दोनों माँ के सम्मुख गए। माँ ने सभी बातें सुनी थी। दोनों ने माँ को देखा। माँ की आँखों में नर्स की बात के लिए सम्मति के भाव थे। दोनों ने उन भावों को देखा।

अचानक माँ के होंठों पर स्मित आ गया।

आठ महीने के पश्चात आया हुआ स्मित!

“क्या सोच रहे हो डॉक्टर? माँ के अधरों का स्मित पढ़ सकते हो?”

क्षणभर मौन रहकर डॉक्टर बोले, “लगता है कि मेरी माँ की सेवा करते हुए तुम थक गए हो।”

“प्रश्न मेरी थकान का नहीं, माँ की पीड़ा का है। माँ थक गई है अब।”

“किन्तु मैं नहीं थका हूँ अभी।”

“आपकी थकान गौण है डॉक्टर साहब। इसे इतना महत्व मत दीजिए।”

“मुझे कुछ भी समज नहीं आ रहा।” डॉक्टर कुर्सी पर बैठ गए। आँखें बंद कर ली। कुछ समय पश्चात वे सहसा रोने लगे। अनायास अश्रुधारा बहने लगी।

मन जब शांत हुआ तब वे उठे। मुंह धोया। पानी पिया। स्वस्थ होकर माँ की समीप, माँ के सम्मुख खड़े रहे। कुछ समय तक माँ को अपलक देखते रहे। माँ भी पुत्र को निहारती रही।

डॉक्टर ने गहरी सांस ली। आँखें बंद की और मन में निश्चय कर सभी मोह को त्याग दिए। आँखें खोली। क्षण भर माँ और बेटे की आँखें मिली। उसी क्षण माँ की आँखों से सभी पीड़ाओं ने निर्गमन किया। सभी मशीनें मौन हो गई।

03/05/2024.

[2]

अपनी अपनी धूप

प्रभात की कोमल मीठी धूप के साये में, समुद्र के मंद मंद संगीत का आनंद लेता हुआ, पुस्तक पढ़ता हुआ वह अपने घर के आँगन में बैठता। समुद्र पर से आती ठंडी पवन मंद गति से उसे स्पर्श करती हुई घर में प्रवेश कर जाती।

घर के सभी द्वार, सभी गवाक्ष उस समय वह खुले रखता। तभी तो समुद्र की पवन उसके घर के कोने कोने में जाकर अपने आगमन और अस्तित्व का प्रभाव छोड़ जाती। पवन की वह अंकित मुद्रा और सुरभि उसे भाति जो उसे पूरा दिन एक साथी की भांति साथ देती।

साँझ होती तो घर के पश्चिम छोर से वह डूबते सूरज को निहारता रहता। संध्या के रंग भी उसके घर के खुले द्वारों से सारे घर में अपना घर बना लेते। उन रंगों को लिपटकर वह रात्री व्यतीत कर लेता।

ऐसी ही एक भोर में वह ऐसी ही धूप के साथ मैत्री गोष्ठी कर रहा था तब उसके कानों ने किसी कोलाहल को सुना। उसने कानों को सतेज किया। कोलाहल पर केंद्रित किया। कोलाहल अब स्पष्ट होता जाता था। धूप के साथ उसकी मैत्री गोष्ठी में वह कोलाहल व्यवधान डाल रहा था। वह विचलित हो गया। कोलाहल की दिशा में दृष्टि डाली। कुछ लोगों की भीड़ दिखाई दी।

“कौन हैं वे लोग? क्या करने आए हैं? कितना कोलाहल कर रहे हैं!” उसने स्वयं को प्रश्न किए। किन्तु उत्तर नहीं मिले। उसने पुन: कोलाहल पर ध्यान दिया। वह अब अधिक स्पष्ट, अधिक तीव्र हो चुका था।

“इतना सारा कोलाहल? समुद्र की लहरों का संगीत भी इस कोलाहल में विलीन हो गया है। कौन हैं ये सब?” उसने पुन: प्रश्न किए, पुन: उत्तर नहीं मिले।

“केवल प्रश्न करते रहने से उत्तर नहीं मिलते।” उसके भीतर से शब्द उभरे। उसने सुने।

“तो कैसे मिलते हैं?” पुन: प्रश्न हुआ।

“प्रश्नों के उत्तर पाने के लिए नए नए प्रश्न करना बंद कर और प्रश्नों के मर्म तक जाने की चेष्टा कर। तभी उत्तर मिलेंगे। ऐसे यहीं बैठे रहने से कुछ नहीं मिलेगा।”

“अर्थात?”

“पुन: प्रश्न? कोलाहल तक जाने का श्रम तो कर। मेरे साथ वाद विवाद में समय नष्ट न कर।”

उसने भीतर की आज्ञा का अनुसरण किया। उठा और कोलाहल कर रही भीड़ के पास पहुँच गया।

“इतना शोर क्यों कर रहे हो? कौन हैं आप सब?” उसके प्रश्न पर बारह लोगों की भीड़ ने ध्यान नहीं दिया।

“मैं कुछ पूछ रहा हूँ, कोई सुनता क्यों नहीं? उत्तर भी नहीं दे रहा?” उसने एक व्यक्ति को पकड़कर पूछा। उसने अन्य एक व्यक्ति की तरफ संकेत करते हुए कहा, “साहब से मिलिये।” वह साहब की तरफ मुड़ा।

“बोलिए, क्या काम था?” साहब ने विवेक से पूछा। उनका विवेक उसे भा गया। एक ठंडी लहर उसे शांति दे गई।

“यहाँ क्या कर रहे हो? आप सब कौन हो? इस शांत निर्जन क्षेत्र में इतना कोलाहल क्यों कर रहे हो?”

“आप यहीं रहते हो?” साहब ने पूछा।

“हाँ। उस मकान में मैं वर्षों से रहता हूँ। अकेला। यहाँ की शांति का वैभव भोगता रहता हूँ। आपके आने से, आपके कोलाहल से मेरी शांति में बाधा हुई है। इसलिए आप सभी यहाँ से चले जाइए।”

“वाह! सुंदर। आपकी शांति में व्यवधान डालने के लिए यदि मैं कारणभूत हूँ तो मुझे इसका खेद है। किन्तु..।”

“किन्तु क्या? खेद है तो बंद कर दो इस कोलाहल को और चले जाओ यहाँ से।”

“वह तो नहीं हो सकता।”

“क्यों?”

“अब ऐसे कोलाहल की आदत डाल दो। यह कोलाहल, इससे भी तीव्र कोलाहल यहाँ होने वाला है। सदा के लिए।”

“क्या?”

“आपकी निर्जन शांति अब आपके साथ रहनेवाली नहीं है। वो इस स्थान को छोड़ कर कहीं चले जाने वाली है।”

“आप क्या कहना चाहते हो? सीधे सीधे स्पष्ट कहो।”

“यहाँ इन खाली स्थानों पर मकानें बनेंगे।”

“कितने मकान? क्यों?”

“यहाँ असंख्य मकान बनेंगे। इस छोर से वह दूर तक दिख रहे छोर से भी आगे तक मकान बनेंगे। उनमें झोंपड़ियों में रह रहे मजदूरों को बसाया जाएगा।”

“अर्थात अब यहाँ असंख्य मजदूर और कारीगर काम करेंगे। मकानें बनाएंगे और बड़ी बड़ी आवाजें करेंगे। यही न?”

“अब आपको यहाँ अकेलापन नहीं लगेगा। एक पूरी बसति यहाँ होगी।”

“मुझे बसती नहीं एकांत चाहिए। बंद करो यह सब।”

“वह तो मेरे हाथ में नहीं है। यह तो सरकार का निर्णय है।”

“तो मैं सरकार के पास जाऊंगा। मेरी बात रखूँगा। और यह सब बंद करवाकर ही रहूँगा।” वह वहाँ से लौट आया।

$%$%

“मैंने मेरे सारे प्रयत्न किए किन्तु व्यर्थ! जीतने भी अधिकारियों से मिला उन सभी ने - मेरे हाथ में कुछ नहीं है - कहकर मुझे टाल दिया। अब तो काम भी चालू हो गया है। रोज असंख्य मजदूर आते हैं। अनेक

व्यक्ति आते हैं। ट्रकों में सीमेंट, रेती आने लगी है। पानी के टेंकर, मशीन, औजार, सामान और मजदूरों की ध्वनि। इस कोलाहल में मेरी शांति, मेरी निर्जनता सब कुछ मैं खो चुका हूँ।" डूबते सूरज को अपलक देखते देखते वह स्वगत बोले जा रहा था।

"वो असीम एकांत, वो अनंत शांति और जहां तक दृष्टि पड़े वहाँ तक की निर्जनता। सब एक ही झटके में सरकार ने छिन लिया। अब तेरे पास क्या शेष बचा? कुछ भी नहीं। तु खाली हो गया है। तेरी पूरी संपत्ति छीनी गई है। तुझे सरकार ने निर्धन बना दिया है। कंगाल बना दिया है तुझे। कंगाल! निर्धन!"

"नहीं। मैं निर्धन नहीं हूँ, कंगाल नहीं हूँ। मेरे पास मेरी संपत्ति में अभी भी बहुत कुछ शेष बचा है।"

"क्या बचा है अब?"

"अभी भी मैं अपने घर से सूर्योदय को देख सकता हूँ। साँझ को सूर्यास्त का आनंद ले सकता हूँ। अभी भी समुद्र की भीनी पवन अपनी सुगंध लेकर मेरे घर में बसने को रोज आती है। संध्या के रंग अभी भी मेरी रात्री के सहवासी बने हुए हैं। सांज के पश्चात मजदूरों का कोलाहल शांत हो जाता है। तब अभी भी मैं समुद्र का संगीत सुन सकता हूँ। पूरी रात मेरा वही एकांत, वही मेरी शांति और वही मेरी निर्जनता मेरे साथ होती है। तो मैं निर्धन या कंगाल कैसे?"

"किन्तु पूरा दिन तो यह सब तेरे साथ नहीं होता है न? इतनी तो तेरी समृद्धि छिन ली गई है न?"

"जो गया है उसे रोने में जो शेष है उसको भी नहीं भोगूँगा तो मैं सच में निर्धन हो जाऊंगा। ऐसे रोते रहने से तो कोई भी संपत्ति मुझे समृद्ध नहीं बना सकती।"

उसके विचारों को सुन एक परछाई संध्या के रंगों में ओझल हो गई। वह उसे शून्य में खोजता रहा।

रात्रि का अंधकार उतर आया। उस तिमिर में वह शांत हो गया, भीतर से। भीतर के मौन में उसने समुद्र के लहरों की ध्वनि सुनी। ध्यान से उसे वह सुनने लगा।

"हाँ। वही ध्वनि है, परिचित ध्वनि। वही लय, वही ताल। वही सुर। समुद्र ने बदली हुई परिस्थिति में भी अपने चरित्र को बचाए रखा है। यह समुद्र भी गजब है।"

समुद्र के संगीत में वह लिन हो गया, सो गया।

जब जागा तो सीधे ही घर से बाहर आ गया। पूर्व दिशा में देखने लगा।

"अभी सूर्योदय नहीं हुआ है। मंद प्रकाश भी नहीं आया है। सूरज को विलंब हुआ है या मैं जल्दी जाग गया?" अपने शब्दों पर वह हंस पड़ा।

"चल, आज से फिर वही सूर्योदय, वही धूप, वही समुद्र का संगीत, वही समुद्र की भीगी पवन और वही पुस्तकें। इन सब के साथ का वियोग दूर कर देता हूँ। इतने दिनों से खोया हुआ आनंद पुन: प्राप्त कर लूँ।"

वह अपने नियत स्थान पर जा बैठा। वही परिचित क्षणों का परिचित आनंद उससे लिपट गया। उसने होंठों से सिटी बजाई। उसकी ध्वनि दिशाओं में व्याप गई।

$%$%

दिन बितते गए। मकानें बनते गए। अपनी संपत्ति में जो कुछ शेष था उसे वह भोगता रहा।

एक सुबह उसके घर में आती धूप अटक गई।

“इतना उजाला है तो सूरज कब का निकल आया होगा। किन्तु धूप कहाँ?” वह स्वगत बोला। उसने सूरज की दिशा में आकाश को देखा।

“आकाश में एक भी बादल नहीं है। कितना स्वच्छ है यह गगन?”

“तो धुप क्यों नहीं है?”

“वहाँ देखो। वे ऊंचे मकानों के पीछे सूरज है।”

“अरे हाँ। सूरज वहीं है किन्तु...।”

“किन्तु मकानों ने धूप को यहाँ तक आने से रोके रखा है।”

“तो अब यह मकान रोज मेरी धूप को रोके रखेगा?”

“वही तो।”

“ऐसा कैसे स्वीकार कर लूँ?”

उसने कुछ सोचा और मजदूरों के काम पर आने की प्रतीक्षा करने लगा।

“दोपहर हो गई। आज क्यों एक भी मजदूर नहीं आया?”

“मकानों की बाधा बनाकर चले गए सब?”

“मैं आपके आने की प्रतीक्षा करूंगा। आज नहीं तो कल तो आओगे न?”

“मजदूरों की प्रतीक्षा में शाम हो गई। सूर्यास्त का समय हो रहा है। चल सूर्योदय नहीं तो सूर्यास्त तो मुझे मेरी धूप देगा ही न?”

वह पश्चिम की तरफ मुड़ा। सूरज अस्ताचल की तरफ गति कर रहा था। धीरे धीरे सूर्य अस्त होने से पूर्व ही दिखना बंद हो गया।

“सूरज कहाँ गया?”

“अभी तो था आकाश में।”

”चला गया है वह तो मकानों के पीछे।”

“श्रीमान, अब तो सूर्यास्त भी नहीं दिखेगा। वहाँ भी ये मकानें अवरोध बनकर खड़े हो गए हैं।”

“किन्तु ये मकानें इतने ऊंचे बन गए तब तक मुझे ज्ञात ही ना रहा? ऐसा कैसे हो गया?”

“तू अपनी बची हुई संपत्ति को भोगने में व्यस्त रहा और ये इतने ऊंचे मकान बन गए।”

“ओ..ह। इन मकानों ने तो मेरे दोनों सूर्य छिन लिए।” वह बैठ गया, मूर्छित सा हो गया।

प्रभात होती रही। सूर्य उदय होता रहा किन्तु उसके आँगन में धूप न आती। वह व्याकुल हो जाता। मजदूरों की प्रतीक्षा करता रहता। मजदूर नहीं आते। साँझ हो जाती। सूर्यास्त होता रहता। किन्तु वह उसे नहीं देख पाता।

कुछ दिनों पश्चात मजदूर दिखे। पुन: काम होने लगा। दौड़कर वह उनके पास जा पहुँचा।

“कहाँ है आपके साहब?”

“अभी आते ही होंगे, आप बैठो।” एक मजदूर ने कहा।

थोड़े समय में दो सरकारी गाड़ियां आई। उनमें से चार अधिकारी निकले। सीधे ही बन रहे मकानों की तरफ चलने लगे।

“आपको जिन्हें मिलना था वे साहब आ चुके हैं।” उस मजदूर ने अधिकारियों की तरफ संकेत किया।

वह अधिकारियों के पीछे दौड़ा।

“साहब, रुकिए। मुझे एक मिनिट बात करनी है आपसे।”

अधिकारी रुक गए।

“कहो, क्या बात है?”

“मैं उस मकान में रहता हूँ, वर्षों से। यहाँ मेरे सिवा कोई नहीं रहता। कुछ समय पूर्व ये मकान बनने प्रारंभ हुए तब से मेरा एकांत, मेरी शांति, मेरी निर्जनता छिन गई है। मैंने वो सब भी स्वीकार कर लिया है, किन्तु अब तो हद हो गई है साहब।”

“क्यों? क्या हूआ अब?”

“अब ये मकान इतने ऊंचे बना दिए हैं कि मेरे घर से दिखते थे वे सूर्योदय और सूर्यास्त दोनों मकानों के पीछे चले गए हैं। इन मकानों ने तो मेरे प्रभात के और साँझ के दोनों सूरज, दोनों धूप छिन लिए हैं मुझसे। ऐसा कैसे चलेगा साहब?”

“तो आपको अपनी धूप की चिंता है? हैं न?”

“हाँ साहब। वे धूप मेरी संपत्ति है। कुछ भी करो, मुझे मेरी धूप लौटा दो।”

“किन्तु हमें तो छाँव की चिंता है।”

“मैं कुछ समजा नहीं।”

“आपकी धूप छिनने वाले ये मकान सैंकड़ों परिवारों को छाँव देंगे।”

“तो क्या उसके लिए मैं मेरी धूप को खो दूँ?”

“नहीं। बिल्कुल नहीं।”

“तो इन मकानों को रोक दो। ऊंचे भाग को तोड़ दो।”

“यह तो नहीं हो सकता, श्रीमान।”

“तो मेरी धूप का क्या?”

“उनकी छाँव का क्या?”

“वह आप जानो। मुझे मेरी धूप चाहिए।”

“मिल जाएगी। आपको आपकी दोनों धूप भी मिलती रहेगी।”

“वह कैसे?”

“बस, आपको अपनी धूप के समय घर से थोड़ा चलकर, मकानों के पीछे आ जाना है। आपकी दोनों धूपें वहीं आपकी प्रतीक्षा करती होंगी। वे आपके साथ ही रहेंगी।”

“किन्तु उसके लिए मुझे घर छोड़ना पड़ेगा ना? थोड़ा चलना पड़ेगा ना? मैं क्यों चलूँ? मैं नहीं चलनेवाला। कहीं नहीं जानेवाला। मुझे बस मेरी दोनों धूप मेरे घर पर ही चाहिए। मुझे और कुछ नहीं सुनना।”

“श्रीमान चंद्रकांत, यही नाम है न आपका?”

“हाँ तो?”

“श्रीमान चंद्रकांत, आपने यह जो अपना मकान यहाँ बनाया है, आपका जो धन आपने कमाया है क्या वे सब आपने अपने घर में बैठकर कमाया है? या आपने उसके लिए घर छोड़ा था?”

उसने कोई उत्तर नहीं दिया।

“एक छाँव पाने के लिए, परिवार को धूप से बचाने के लिए ये लोग इतनी महेनत कर रहे हैं। अपना गाँव छोड़कर आए हैं। तो आप अपनी धूप पाने को कुछ चरण चल नहीं सकते? जिसने तपती धूप का अनुभव कभी नहीं किया हो उसे छाँव का मूल्य कहाँ समज आता है? लड़ने के लिए, विवाद करने के लिए यहाँ तक आ सकने वाला व्यक्ति अपनी धूप पाने को थोड़ा चलने को भी तैयार नहीं है?”

अधिकारी रुका। चंद्रकांत के मुख के भावों को देखने लगा। उसका मुख अभी भी खींचा हुआ था।

“थोड़ा चल लो चंद्रकान्त जी। आपको अपनी धूप मिल जाएगी।”

अधिकारी चले गए। वह कुछ समय तक वहीं रुककर लौट आया घर को।

सूरज मध्यान्ह से आगे बढ़ चुका था। उसकी धूप उसकी प्रतीक्षा करती हुई गति कर रही थी।

“हे सूरज, मैं अपनी धूप को मिल लूँ उसके पश्चात तू सुख से अस्त हो जाना।”

उसने एक पुस्तक लिया। चलने लगा।

उसके अधरों पर अनायास स्मित आ गया। जैसे खोया हुआ सब कुछ लौट आया हो।

सम्पन्न

04/04/2024

ऑस के आँगन में

अपनी अपनी साइकल लेकर बच्चे एक स्थान पर जमा हो गए। रात्रि अपने अंतिम प्रहर में थी। हवा कुछ शीतल सी थी। किन्तु बच्चों का उत्साह उष्ण था।

सभी निकल पड़े नगर की उत्तर दिशा में। कुछ क्षण पश्चात सब रुक गए। वहाँ एक चौराहा था। बच्चे इससे आगे कभी नहीं गए थे। उस चौराहे के बाकी तीन मार्ग उन्हें कहाँ ले जा सकते थे उस बात से वह अनभिज्ञ थे।

“कौन से मार्ग पर हमें जाना है?” दुविधा में एक ने पूछ लिया।

“जिस दिशा में वन-उपवन मिले।”

“वन-उपवन कौन सी दिशा में होगा?”

“मुझे नहीं पता। कोई जानता है क्या?”

“नहीं।” सब एक साथ बोल पड़े।

“तो अब क्या?” सब के मुख पर यह प्रश्न आकार लेने लगा। किसी के भी पास इस प्रश्न का उत्तर नहीं था। दुविधा में पड़े सब मौन रहे। कुछ क्षण व्यतीत हो गए।

“ऐसे ही खड़े रहे और कोई निर्णय नहीं लिया तो शीघ्र ही सूरज निकल आएगा।”

किसी ने मौन तोड़ा।

“तो?” पुन: सबके मुख पर प्रश्न आ गया।

“तो उससे मिल नहीं पाएंगे। उसने जो कहा था वह याद है?”

“हाँ, याद है। पूरा पूरा याद है।” और सभी बच्चे उस क्षण को याद करने लगे।

“बच्चों, आज हम एक कवि के साथ वार्तालाप करेंगे।” एक शिक्षक ने सभागृह में जमा हुए बच्चों से कहा। सभी बच्चे एक दूसरे की तरफ देखने लगे। उन सबकी आँखों में कोई विस्मय था।

“खेल कूद रद्द कर यहाँ जमा कर दिया हम सब को। ऊपर से यह कवि?”

“यह कवि क्या होता है?” किसी ने निर्दोष भाव से पूछ लिया।

कोई कुछ नहीं बोला। सभी मौन हो गए।

कवि ने अपनी बात प्रारम्भ की। अनेक बातें की। अनेक कवितायें भी सुनाई।

कुछ बच्चों को आनंद आने लगा। कुछ को थोड़ा कुछ समझ आया। कुछ को प्रयास करने पर भी कुछ नहीं। बाकी बच्चों को कवि नीरस लगे।

“पीछे के द्वार से भाग जाते हैं।” किसी ने दूसरे के कान में कहा।

“भाग कर क्या करेंगे?”

“खेलेंगे, दौड़ेंगे, नाचेंगे, गाएँगे।”

“तो चल भाग जाते हैं।”

दो चार बच्चे भाग गए। किसी ने उसे भागते हुए नहीं देखा।

“अब मैं आप सबको एक नयी बात कहूँगा। ध्यान से सुनना।” कवि ने कहा। सभी बच्चों ने अपना अपना ध्यान कवि पर केन्द्रित किया। सारा सभागृह शांत हो गया।

“आपने कभी ऑस देखी है? उसे शबनम अथवा तुषार भी कहते हैं। किसी ने ऑस देखी है?” कवि ने पूछा।

“नहीं…।” सभागृह में यह नाद गूंज उठा।

“चलो मैं आपको बताता हूँ।” कवि के इन शब्दों ने असर किया। जैसे कोई जादूगर कोई नया जादू दिखानेवाला हो और सभी प्रेक्षक उसे ध्यान से देखने लगे वैसे ही बच्चे उस कवि को देखने लगे।

“ऑस कभी दिवस में नहीं दिखती। वह देर रात को निकलती है।”

“ऑस कोई प्राणी है?” किसी ने सहज पूछ लिया। शांत सा, स्थिर सा सभागृह बच्चों के ठहाकों से भर गया। कुछ क्षण के लिए सभागृह आंदोलित हो गया। धीरे धीरे पुन: शांत हो गया।

“नहीं, ऑस किसी प्राणी का नाम नहीं है।” कवि ने आगे कहा, “ऑस को देखना हो तो इस नगर से कहीं दूर जाना होगा। ऑस प्रभात के निकलने से पहले देखी जा सकती है। सूरज के उगने से पहले उसे देखना होगा। क्या आप उसे देखना चाहते हो?”

“हाँ…।” सभी ने एक साथ कहा।

“तो आपको सूरज से पहले जागना होगा। क्या आप जागोगे?”

“हाँ।”

“ऑस को देखने के लिए किसी वन-उपवन में जाना होगा। वहाँ अनेक फूल खिले होते हैं। उन फूलों की पंखुडीयों पर ऑस रहती है। उसे पकड़ने जाओ तो वह सरक जाती है और पर्णो से नीचे गिर जाती है। सूरज उगते ही वह उड जाती है। उसे स्पर्श करने से हथेलियाँ भीग जाती है किन्तु हाथ नहीं आती। वह पानी सी होती है किन्तु उसे पी नहीं सकते। उसे समेट नहीं सकते। यदि उसे समेटना चाहो तो उस पर कोई कपड़ा डालना पड़ता है। उस कपड़े को निचोड़ो तो दो चार बूंदें ऑस की हमारी हथेली पर आ सकती है।”

सभी बच्चे उस कवि की बातों को बड़े ही रस से सुन रहे थे। अब तक कविताओं में उलझ रहे बच्चों को ऑस की बातों से आनंद आ रहा था। उनकी आँखों में विस्मय के भाव थे।

“यह ऑस अत्यंत सुंदर होती है। अत्यंत आकर्षक भी होती है। आपने देखी है ऐसी ऑस को?” कवि ने सभी से पूछा।

“नहीं।”

“देखना चाहते हो?”

“हाँ।”

“इस नगर में तो कोई उपवन बचा ही नहीं है। इस लिए आप सब को इस नगर से दूर जाना होगा। इस भीड़ से कहीं दूर। सूरज के निकलने से पहले फूलों तक जाना होगा। जाओगे क्या?”

“हाँ, हम सब जाएँगे।”

“तो निकल पड़ो। ऑस से मिल लो। एक बार ऑस से मिलोगे तो आप उसके प्रेम में पड़ जाओगे।”

“हाँ, हम मिलेंगे ऑस से। हम... मिलेंगे...।” बच्चों के ध्वनि में सभा सम्पन्न हो गई। अपने अंदर एक आश्चर्य को समेटे सभी बच्चे घर चले गए।

उस में से कुछ बच्चे उसी ऑस की खोज में घर से निकल पड़े थे और एक चौराहे पर आकर अटक गए थे।

“शीघ्र ही कोई निर्णय करो। कहीं सूरज निकल आया तो?”

“आगे कौन से मार्ग पर जाना है? हम में से यह किसी को नहीं पता।”

“तो किसी भी मार्ग पर चल पड़ते हैं।”

“हाँ, यही उचित रहेगा।” सब ने कहा।

सब किसी एक अज्ञात मार्ग पर निकल पड़े।

बच्चे साइकल पर सवार थे। प्रभात से पहले बहती शीतल पवन सभी को स्पर्श कर रही थी। हवा के ऐसे स्पर्श से बच्चे रोमांचित थे। अभी भी रात्री का अंधकार था। सूरज के निकलने में समय था। बच्चे आनंदित थे। वह कुछ गीत गाते चले जा रहे थे।

नगर से वह दूर आ चुके थे।

“रुको, रुको।” हांफते हुए उसने सभी को रोका। सभी रुक गए।

“क्या हुआ? रुक क्यों गए?”

“ऐसे रुक गए तो सूरज निकल आएगा।”

“किन्तु यह नगर समाप्त ही नहीं हो रहा। इस नगर के पूर्ण होने के पश्चात ही उपवन आएगा।”

“उपवन में हमें फूल मिलेंगे।”

“उन फूलों पर ऑस होगा।”

“हम ऑस को देखेंगे, स्पर्श करेंगे, हथेली भीगोएंगे।”

“और उस ऑस के प्रेम में पड़ जाएंगे।”

“यह सब ठीक है किन्तु हमें इस नगर के समाप्त होने तक चलना होगा। इस तरह रुकना नहीं है।”

“तो चलो। हमें अपनी गति बढानी होगी।”

सभी चलने लगे, नगर की समाप्ति की अपेक्षा लिए। चलते रहे किन्तु नगर समाप्त नहीं हुआ। कोई उपवन नहीं आया। पूर्व दिशा में अंधकार का प्रभाव घटने लगा। उसमें प्रकाश जुडने लगा। किन्तु बच्चों का मार्ग सम्पन्न ही नहीं हो रहा था।

पुन: एक चौराहा आया। सभी रुक गए। पुन: दुविधा में पड़ गए।

“यह नगर तो हमारे साथ साथ चल रहा है क्या? अंत ही नहीं हो रहा इसका?”

“कहीं हम सब भटक तो नहीं गए?”

“यही लगता है। उपवन आए ना आए, ऑस मिले ना मिले, किन्तु घर लौटने का मार्ग तो मिलेगा ना?” वह बच्चा चिंतित हो गया।

“घर? घर तो हम पीछे छोड़ आए। बहुत पीछे।”

“कैसे जाएंगे घर तक?” सभी बच्चे चिंतित हो गए। ऑस से मिलने का उत्साह उतर गया। घर तक जाने की चिंता ने जन्म ले लिया। चिंता भय में परिवर्तित होने लगी।

“इससे आगे मैं नहीं जाऊंगा।” वह साइकिल को एक तरफ रखकर नीचे बैठ गया।

दूसरों ने भी वही किया।

“मुझे तो भूख लगी है।”

“मुझे पानी चाहिए। कोई पानी पीला दो।”

“पानी? वह तो हमने साथ लिया ही नहीं।”

“हम पानी साथ लेना कैसे भूल गए?”

“एक तो थकान और पानी भी नहीं, खाने को भी कुछ नहीं। क्या करेंगे अब?”

“लौट चलते हैं।”

सब जाने की तैयारी करने लगे। प्रकाश धीरे धीरे प्रवेश करने लगा था। मार्ग पर एक्का दुक्का वाहन तथा दो चार व्यक्तियों का आवागमन प्रारम्भ हो चुका था।

सभी लौटने को तैयार थे। एक के बाद एक साइकल नगर की तरफ लौटने लगी। सबसे आगे एक लड़की चल रही थी। घर लौटने को वह उतावली थी। वह साइकल तेज चलाने लगी। उसकी गति तीव्र थी। आगे दाहिने हाथ पर मार्ग मुड़ता था। उस लड़की की तीव्र गति के कारण वह मार्ग के साथ मूड ना सकी। वह धूल में गिर गयी।

उसकी साइकल, कपड़े, हाथ, पैर, मुख सब धूल से नहा गए। उसे हाथ पर तथा पैरों में चोट लग गई। वह रोने लगी। सभी साइकलें रुक गई। सभी ने उसे स्वस्थ होने में सहायता की। वह धीरे धीरे उठी। उसके हाथ-पैर में पीड़ा थी। वह अभी भी रो रही थी। रोती ही जा रही थी।

“मुझे पीड़ा हो रही है। मेरी दवा करो। मुझे पानी दो। मेरे हाथ-पग तथा कपड़े साफ करो।” बोलती जा रही थी, रोती जा रही थी।

“तुम पहले रोना बंद करो।” किसी ने कहा। वह अधिक तीव्रता से रोने लगी।

“तुम सब इसे संभालो, मैं कहीं से पानी लाता हूँ।” एक लड़के ने कहा।

उसने दूर दूर तक देखा कि कहीं पानी मिल जाय। बाकी सभी उस लड़की को सहारा दे रहे थे, सांत्वना दे रहे थे। वह रोती जा रही थी। धीरे धीरे उसके रोने की गति मंद होने लगी।

दो तीन लड़के उसे छोड़ कर पानी खोजने लगे। दूर तक द्रष्टि करने लगे। कहीं कोई पानी नहीं देखा।

“पानी भी नहीं मिल रहा है यहाँ? ये कहाँ आ गए हम?”

“पानी नहीं मिला तो घर कैसे जाएंगे?”

“वह तो बाद में सोचेंगे। पहले उस रोती लड़की को शांत कराना होगा। उसके हाथ पैर साफ करने होंगे। कैसे होगा यह?”

“बस एक बार थोड़ा पानी मिल जाय तो बात बन जाय।”

“वही तो नहीं मिल रहा है।”

तीनों लड़के रुक गए। निराश हो गए। पास ही खड़ी एक कार के पास खड़े हो गए। पानी की खोज का विचार करते रहे।

“सुनो, सुनो। पानी मिल गया।” एक चिल्लाया।

“कहाँ है?” बाकी दो भी चिल्लाये।

“यहाँ देखो। इस कार को देखो। यह कार भीगी हुई है। मेरे हाथ को देखो। कार के पानी से हाथ भीग गया मेरा।”

“हाँ, बात तो सही है। किसी ने कार को पानी से नहलाया लगता है।”

“हमें यहाँ पीने को पानी नहीं मिल रहा है और यह है कि पूरी कार को पानी में नहला दिया। कैसे है यह लोग?”

“वह सब छोड़। इस कार पर लगे इस पानी को उस लड़की तक ले जाना पड़ेगा। कैसे करेंगे?”

“वही तो। सोचो, सोचो। कोई उपाय ढूंढ लो।” तीनों कुछ उपाय सोचने लगे।

“एक काम हो सकता है।”

“क्या?”

“उस कवि ने कहा था कि ऑस को फूलों से समेटना हो तो किसी कपड़े के सहारे कर सकते हैं। याद है ना?”

“अरे हाँ, पक्का याद है।”

“तो कोई कपड़ा ले आओ।”

“यह लो, मेरे पास रुमाल है। इस पानी को ऑस की भांति रुमाल में समेट लेते हैं। उसके पास जाकर निचोड़ लेंगे।”

“अच्छा उपाय है। किन्तु उस लड़की तक बार बार जाना पड़ेगा। उसे ही यहाँ ले आते हैं।”

“यही उचित है। तुम जाकर उसे यहाँ ले आओ। मैं पानी समेटता हूँ।”

वह लड़का उस लड़की को लेकर आया। दूसरे बच्चों ने अपने अपने रुमाल से कार पर पड़ा पानी समेटा, उस लड़की पर निचोड़ा और उसकी पीड़ा को घटाने का प्रयास किया। हाथ पैर भी साफ किए।

लड़की ने अब रोना समाप्त कर दिया था। पीड़ा से थोड़ा थोड़ा ध्वनि उत्पन्न कर रही थी।

“इस कार पर पड़ा पूरा पानी समाप्त हो गया।”

“दूसरी कार देखो। कहीं उस पर भी पानी मिल जाय।”

“यहाँ तीन और कार हैं। सब की सब भीगी है।”

“तो चलो सभी हाथ पैर साफ कर लेते हैं।” बच्चे कार पर लगे पानी से सफाई करने लगे।

“सफाई तो हो गई, किन्तु पीने के लिए पानी कहाँ मिलेगा?”

“देखो, सूरज निकलने को है। कोई घर खुल जाय तो उस घर से पानी मांग लेंगे।”

“यहाँ दूर दूर तक कोई घर नहीं है।”

सभी ने चारों तरफ देखा। कहीं कोई घर नहीं था। वह चिंतित हो गए।

“चिंता ना करो। हम घर लौट जाते हैं।”

“घर ही तो लौट रहे थे हम। किन्तु भूखे-प्यासे कैसे जाएंगे?”

“थोड़ी प्रतीक्षा कर लेते हैं। सूरज निकलते ही लोग आएंगे। उनमे से किसी के पास तो पानी होगा।”

किसी ने कोई उत्तर नहीं दिया। सब बैठ गए। किसी के आने की प्रतीक्षा करने लगे। उस के पास पानी होने की अपेक्षा करने लगे।

कोई आया। सबने उससे पानी मांगा। उसने सब को पानी दिया। बच्चे प्रफुल्लित हो गए। उसने उस व्यक्ति को पूरी कथा सुना दी। उसने स्मित दिया।

“इतनी दूर तक आ गए किन्तु ऑस नहीं मिली।” एक ने कहा।

“तो क्या हुआ? कार पर लगे पानी से हाथ भीगे करने का आनंद तो आया।” दूसरे ने कहा।

“बच्चों, कार पर जो था वह पानी नहीं था।” उस व्यक्ति ने कहा।

“तो क्या था?” सभी एक साथ पूछने लगे।

“वही तो ऑस थी।” उसने कहा।

“क्या?”

“हाँ। वही तो ऑस थी।”

“यह कैसे हो सकता है?”

“उस कवि ने तो कहा था कि ऑस वन-उपवन में फूलों पर होती है। ऐसे कार पर भी होती है क्या?”

“हाँ, सभी कार पर ऑस होती है।” उसने कहा।

“ऐसी ऑस तो हमारी कार पर हंमेशा होती है। हम रोज देखते हैं।” एक ने कहा।

“और उसकी खोज में हम यहाँ तक आ गए? बुध्धु कहीं के।” सभी बच्चे बड़बड़ाते रहे।

सम्पन्न

01/04/2019

[4]

कुछ भी नहीं

"नहीं। मैं नहीं आ रहा हूँ तुम्हारे साथ।" मैंने कहा।

"तुम फिल्म देखने को मना कर रहे हो? क्यों?" उसको आश्चर्य हुआ।

"मुझे सूर्यास्त देखना है।"

"सूर्यास्त? कल तो तुमने देखा था सूर्यास्त?"

"तो? मैं आज भी देखूँगा उसे।"

"कल देख लेना। सूर्यास्त कहाँ भागा जा रहा है। यह फिल्म कल बदल जाएगी।"

"कल भी देखूँगा मैं सूर्यास्त।"

"कल भी? क्या कह रहे हो?"

"जब तक हम यहाँ हैं, इसी समुद्र तट से मैं सूर्यास्त देखूँगा, हर दिन।"

"क्या? एक महीने तक तुम हर दिन सूर्यास्त देखोगे?"

"हाँ। यही तो कहा मैंने।"

"सूर्यास्त तो रोज होता है। वही सूर्य, वही सूर्यास्त। रोज रोज उसे क्या देखना?"

"रोज कहाँ देख पाते हैं। यहाँ आकर तो देखने को मिला है।"

"तुम अपने घर जाकर रोज देखना सूर्यास्त को, आज तो चलो मेरे साथ।"

"अपना घर और सूर्यास्त? कहाँ देख पाते हैं हम अपने घर से इसे? उस महानगर में सूर्यास्त तो होता है बड़े बड़े भवनों के पीछे। वहाँ तक दृष्टि ही नहीं जाती। और यहाँ? सीधा सीधा दिखता है। हम, सूर्य और सूर्यास्त। कोई बाधा नहीं।"

"ठीक है, किन्तु ऐसा क्या है कि रोज रोज सूर्यास्त देखने को तुम तत्पर हो?"

"वह तुम नहीं समझोगी।"

"चलो मान लिया कि मैं नहीं समझूँगी। किन्तु इतना तो बता दो कि रोज रोज वही सूर्य, वही सूर्यास्त को देखने में क्या रखा है? इसमें क्या विशेष है?"

"कुछ भी तो नहीं।"

"कुछ भी नहीं?" वह आश्चर्य से बोली।

"हाँ, कुछ भी नहीं।" मैंने कहा।

"तुम पागल हो। मैं तो चली सिनेमा देखने।" वह चली गई।

"अब देखूँगा सूर्यास्त। अकेला, मन भर।" मैं आगे बढ़ गया, समुद्र की तरफ।

सूरज धीरे धीरे अस्त होने को बढ़ रहा था। उसे देखते देखते मैं एक स्थान पर आकर रुक गया। मैं सूरज को अनिमेष देखता रहा।

“क्या विशेष है इस रोज रोज होते सूर्यास्त में?” सहसा उसके शब्दों का स्मरण हो आया मुझे।

और मैंने कहा था, “कुछ भी तो नहीं।”

“कुछ भी तो नहीं?” माँ भी यही कहा करती थी।

माँ।

तब मैं छोटा बच्चा था। शाला से जब घर लौटता था तो देखता था कि छत पर बैठी माँ सूर्यास्त को देखा करती थी। वह रोज की बात थी।

माँ बिना चुके प्रति दिन शाम होते ही छत पर चढ़ जाती थी और सूर्यास्त को देखती रहती थी। एक दृष्टि से, अपलक नेत्रों से वह सूर्य को अस्त होते देखती रहती थी।

मैंने कभी किसी अन्य स्त्रियों को इस प्रकार सूर्यास्त देखते हुए नहीं देखा था। मुझे अचरज होता था कि माँ ही क्यों सूर्यस्त देखती रहती है। ‘कुछ’ तो बात होगी जो माँ रोज रोज ऐसा करती थी।

माँ की भांति अन्य स्त्रियों को वह ‘कुछ’ के विषय में ज्ञान था ही नहीं? या माँ के उस ‘कुछ’ को वे ‘तुच्छ’ मानती होंगी?

माँ जब ऐसा करती है तो अवश्य ही कुछ बात होगी। मैं कई दिनों तक मेरी छोटी सी बुद्धि से उसे समझने का प्रयास करता रहा किन्तु वह ‘कुछ’ मेरी समझ से परे ही रहा।

माँ को सूर्यास्त को देखते हुए छोड़कर चला जाता था खेलने।

एक दिन खेलते समय किसीने पूछ लिया, “तेरी माँ रोज शाम को छत पर क्या करती है?”

“वह सूर्यास्त देखती है।” मैंने सीधा सा उत्तर दिया। किन्तु वह मित्र उससे संतुष्ट नहीं था। वह आयु में मुझसे बड़ा था। उसके मन में मेरे मन में उठ रहे प्रश्नों से अधिक प्रश्न उठते थे।

“सूर्यास्त कोई रोज रोज थोड़े देखता है। ऐसा क्या है जो तेरी माँ रोज रोज उसे देखती है?” उसने नया प्रश्न कर दिया।

“मुझे क्या पता?” मैंने कहा।

“तो पूछ ना अपनी माँ को?”

“क्या पूछूँ?”

“यही कि एक ही सूर्य है, एक ही पश्चिम का आकाश है, वहीं दूर सूर्य डूब जाता है। ऐसा तो रोज होता है। तो एक ही घटना को वह रोज रोज क्यों देखती है? रोज रोज देखने से व ऊब नहीं जाती?”

“मैं पूछ तो लूँ किन्तु मैं तो छोटा हूँ। माँ का जवाब मुझे समझ न आए तो? तुम बड़े हो। तुम मेरे साथ चलो। हम साथ मिलकर पूछेंगे।”

“यह ठीक है। तुम्हारी माँ का उत्तर मैं समझ जाऊंगा और तुझे भी समझा दूंगा।”

उस शाम हम दोनों माँ के साथ छत पर गए और सूर्यास्त देखने का प्रयास करते रहे। हमने अस्त होते सूर्य को देखा था, ध्यान से देखा था। इस कोने से देखा था, उस कोने से भी देखा था। किन्तु कुछ बात नहीं बनी। हम कुछ ही क्षणों में ऊब गए।

मित्र ने मुझे संकेत किया, “पूछ ना तेरी माँ को।”

मैं माँ के समीप गया। वह ध्यानमग्न होकर सूर्यास्त देख रही थी। उसके ध्यान में व्यवधान करने का साहस ना हुआ मुझ से। मैं पूछ नहीं सका। मित्र ने पुन: संकेत किया किन्तु मैं पूछ नहीं सका।

मित्र ने धैर्य खोया। वह पूछ बैठ, “मौसी, आप रोज रोज इसी सूर्यास्त को क्यों देखती हो?”

माँ हंसी। बिना हमारी तरफ देखे वह बोली, “बस, यूं ही।”

“क्या कोई खास बात है इस सूर्यास्त में?”

माँ ने क्षितिज में देखते हुए ही कहा, “कुछ भी तो नहीं।” और वह मौन हो गई। डूबते सूर्य को देखने में व्यस्त हो गई।

हम दोनों माँ के मुख को देख रहे थे। माँ के उस ‘कुछ भी तो नहीं’ को खोजने का प्रयास करते रहे। हमारे हाथ कुछ भी नहीं लगा।

माँ डूबते सूर्य को देख रही थी। आकाश के बदलते रंगों को भी। कुछ ही क्षणों में सूर्य अस्त हो गया। आकाश अपने रंग बदलने लगा। अनेक पंछी दूर दूर से उड़कर गाँव की तरफ आने लगे। सभी अपने अपने घौंसले वाले पैडों पर जा बैठे। माँ अब उन पंखियों को देख रही थी। जब सभी पंखी अपने अपने पैडों पर बैठ गए तब माँ छत से नीचे उतर आई। अपने काम में व्यस्त हो गई।

मंदिर में आरती का घंट बजने लगा। हम दौड़कर मंदिर चले गए।

हम दोनों दूसरे दिन भी छत पर गए। तीसरे दिन भी, चौथे दिन भी। हमने देखा कि माँ का वही क्रम रहता था।

सूर्यास्त देखती, ध्यानस्थ होकर। आकाश को देखती, लौट आते पंखियों को देखती। नीचे चली जाती और काम में व्यस्त हो जाती।

बापू किसी बड़े नगर में रहते थे। वहाँ काम कर घर को पैसा भेजते थे। उसीसे घर चलता था।

एक दिन बापू नगर से घर आए। हम सब प्रसन्न थे। कुछ दिन रुककर बापू लौट गए नगर में। घर जैसे खाली हो गया।

जिस दिन बापू नगर को लौटे, उसी दिन माँ पुन: छत पर चली गई। वही सूर्यास्त, वही पंखियों का पैडों पर लौटना और वही छत से नीचे आकर काम में व्यस्त हो जाना मैंने देखा।

तभी मुझे ध्यान आया कि इतने दिनों तक बापू हमारे साथ थे तब माँ एक बार भी छत पर सूर्यास्त देखने नहीं गई थी।

क्यों?

उस क्यों का उत्तर मेरे पास तब नहीं था, ना ही मैं उसे समझ पाया। किन्तु मन में वह ‘क्यों’ सदैव खटकता रहा।

समय बिता। बापू लौट आए तो मैं चल पडा बड़े नगर में नौकरी करने। माँ - बापू को भी मैं बड़े नगर लेकर आया था किन्तु कुछ ही दिनों में वे नगर जीवन से ऊब गए। लौट गए अपने गाँव को। और मैं रह गया अकेला उस नगर में।

नौकरी के कार्य से ही कुछ दिनों के लिए नगर से दूर, समुद्र तट पर आया हूँ मैं और सूर्यास्त देखने के लिए प्रतीक्षा कर रहा हूँ।

सूरज अपनी नियत गति से अपने अस्त की तरफ बढ़ रहा था जो अब उतावला होकर समुद्र में डूबने को चल पड़ा है।

मैं सूर्यास्त को देख रहा हूँ, ध्यान मग्न होकर, जैसे माँ देखा करती थी।

सूरज डूब गया। आकाश ने रंग बदला। समुद्र से उड़कर पंखियों के दल के दल तट की तरफ आने लगे। मैं उन्हें देखने लगा।

एक एक कर सभी पंखी धरती पर लौट आए। अपने अपने पैडों पर जा कर घुस गए घोंसलों में।

दूर कहीं कुछ नाव तट पर आकर रुक गई। उनमें से उतरकर कुछ लोग चल पड़े धरती पर।

धीरे धीरे प्रकाश का स्थान अंधकार लेने लगा।

“क्या था इस सूर्यास्त में?” मैंने स्वयं को प्रश्न किया।

“कुछ भी तो नहीं।” मुझे उत्तर मिला।

मैंने अनायास ही वहाँ देखा जहां सूर्य अस्त हुआ था। वहाँ अंधकार के सिवा कुछ भी न था।

मैंने पंखियों के घोंसलों वाले पैडों को देखा। वहाँ भी कुछ न था।

तट पर लगी नावों को देखा, उनमें भी कोई नहीं था।

“कुछ भी तो नहीं।” मैं सहसा बोल पड़ा। मैंने आँखें बंद कर ली। दूर कहीं मंदिर की आरती का घंट बजने लगा।

तभी मैंने जाना कि माँ के ‘कुछ भी तो नहीं’ में कितना कुछ था।

अस्तु।

सम्पन्न।

15/11/2025

[5]
मुद्दतों से गुजरा नहीं

“वह भी कोई उम्र होती है प्यार करने की? किसी को चाहने की?” मैंने आश्चर्य से पूछा।
“तुम क्या समझते हो? क्या जानते हो? प्यार की उम्र क्या होती है? किसी लड़की के प्यार के विषय में लड़के कभी जान नहीं पाते कि लड़की के मन में क्या है?” उस स्त्री ने एक साथ कई सवाल कर दिये।
“मेरे हिसाब से तो लड़कियां जब 15-16 वर्ष की होने लगती हैं तब प्यार करना ...।” मेरी बात को बीच में ही काट दिया उसने।
“नहीं। गुड्डा गुड्डी का जब से खेल खेलने लगती हैं, लड़कियां तब से किसी को चाहने लगती हैं। तुम्हें पता भी है कि, लड़की किस उम्र में यह गुड्डा गुड्डी का खेल खेलना शुरू करती है?”
लड़कियों के मामले में मेरा ज्ञान अल्प था। मैंने चुप रहना ही उचित समझा। लगभग पैंतीस मिनट से मैं उस स्त्री से बातें कर रहा था पर मैंने उसका नाम तक जानने की चेष्टा नहीं की थी। और ना ही उसने। और तो और, हम प्रेम की, प्रेम की उम्र की और ऐसी संवेदनापूर्ण बातें कर रहे थे। मुझे कुछ अजीब सा लगने लगा। कौन है यह स्त्री? दिखने में तो मुझ से बारह पंद्रह वर्ष बड़ी लगती है। सैंतीस अड़तीस की तो होगी।
वह अपने घर के आँगन में खड़ी थी और में उसी की दी गई कुर्सी पर बैठा था।
मैं ने उसे केवल एक छोटा सा सवाल किया था, “यहीं कहीं किसी घर में एक शिक्षक रहा करते थे, चिंतन सर के नाम से जाने जाते थे। उसका घर बता सकती हैं आप?” खुले द्वार वाले घर पर मेरे दस्तक देते ही बाहर आई उस स्त्री को मैंने पुछ लिया था।
“वह तो अब यहाँ नहीं रहते। कई साल बीत गए उसे यहाँ से चले गए।” उसने बड़े ही बेफिक्र अंदाज से कहा।
“क्या आप बता सकती हो कि वह कहाँ गए होंगे?” मैंने उत्सुकता से पूछा।
“वह तो पता नहीं।”
“चिंतन सर की तो अच्छी ख़ासी नौकरी थी। तो फिर क्यूँ...?”

“नौकरी तो अच्छी थी पर क्या बताऊँ …?” मेरी बात काट कर वह बोलने तो लगी पर स्वयं अटक गई। उसका इस तरह से अटकना मुझे विचलित कर गया। बड़ी खराब आदत होती है ऐसी स्त्रीयों की, बात को लटका कर अटक जाना।

उसके चहेरे के भाव बाता रहे थे कि वह बडी उत्सुक थी आगे बताने के लिए, पर भाव खा रही थी। मैं मौन ही खड़ा रहा, अपने चहेरे पर प्रश्नार्थ लेकर।

उसका धैर्य तुट गया। वह बोलने लगी, “नौकरी तो बड़ी अच्छी थी पर कोई कब तक सहता अपनों का दर्द? कोई अपना दर्द तो सह लेता है पर अपनों का दर्द उसे बेचेन कर देता है।”

मेरी उत्सुकता बढ़ गई, “क्या कहना चाहती हो, जरा विस्तार से कहो।”

उसे भी बस मेरे इस न्योते की ही प्रतीक्षा जैसे, वह घर के अंदर से एक कुर्सी लेकर आ गई और कहा, “यदि पूरी बात सुनने का धैर्य हो तो बैठ जाओ इस पर। कहानी थोड़ी लंबी है, पर है बड़ी ही रोचक। कुछ पलों का समय तो है न तुम्हारे पास?”

मैं कुर्सी पर बैठ गया। वह खड़ी ही रही। बस बोलने को जैसे तरस रही हो। मुझे लगा कि इस स्त्री के शब्दों के रास्ते से मुद्दतों से कोई गुजरा नहीं होगा। उसकी प्यास ज्यादा थी या मेरी उत्सुकता, पता नहीं।

“चिंतन की एक छोटी बहन थी। हेमलता था उसका नाम।” वह सांस लेने को रुकी। मेरी तरफ देखा। वह संतुष्ट थी कि मैं उसकी बातों में रुचि ले रहा था।

यह नाम सुनते ही मेरे सामने उस लड़की की तस्वीर उभर आई। कोई दो साल पीछे वाली क्लास में वह पढ़ती थी। जब भी मैं चिंतन सर के घर जाता था, घर का दरवाजा वही खोलती थी। उसके पैरों मे गझब की फुर्ती थी। दरवाजा खटखटाने की आवाज सुनते ही ना जाने वह कहाँ से दौड़ आती थी और दरवाजा खोलकर, बीच दरवाजे, होठों पर हंसी लेकर खड़ी हो जाती, दरवाजे से भी ज्यादा मजबूत दीवार की तरह। अंदर से सर की सूचना मिलने पर ही वह बीच रास्ते से हटती।

मुझे लगता था कि वह हर एक विद्यार्थी के साथ ऐसा ही करती होगी। पर जब मैंने मेरे दोस्तों से पूछा तो पता चला कि, मेरे साथ ही वह ऐसा व्यवहार करती थी। मुझे थोडा अजीब सा लगा, पर मैंने उस पर ध्यान नहीं दिया था।

फिर तो जैसे आदत सी हो गयी थी। मैं दरवाजा खटखटाता, वह खोलती, बीच राह खड़ी हो जाती और फिर सर की आवाज सुनते ही रास्ते से हट जाती। मैं भी उसके दरवाजे से हटने की प्रतीक्षा करता, बिना किसी उतावलेपन के।

कई दिनों तक मेरी समज में नहीं आया कि बंध दरवाजे के पीछे से उसे कैसे पता चल जाता था कि दरवाजे पर दस्तक मैंने दी थी? फिर पता चला कि दरवाजे पर दस्तक देने का मेरा अंदाज सब से अलग था।

मुझे अब भी याद है कि मैं दरवाजे पर बाँये हाथ की पहली दो उँगलियों से पूरे आठ बार दस्तक देता था। हाँ, आठ बार। अनायास ही मेरा बाँया हाथ उठ गया और हवा के बंध द्वार पर आठ बार दस्तक दे बैठा।

मेरे इस तरह उठे हाथ को देखकर वह स्त्री चौंक पड़ी। उसने मेरी तरफ संदेह भरी द्रष्टि डाली। मैंने मेरे हाथ को संभाला, उसकी बात पर ध्यान देने लगा। वह कहे जा रही थी।

“उसके उपरांत घर में माँ भी रहती थी।” मैं सर की माँ को जानता था। सर माँ को बहुत चाहते थे। वह थी ही इतनी प्यारी कि सर तो क्या हम सब विद्यार्थी भी उसे चाहते थे। उनके लिए हम सब उनके बेटे ही थे। सब को प्यार, दुलार देती रहती थी और कुछ न कुछ खिलाती रहती थी।

माँ का नाम सुनते ही दिल में भय जन्मा कि कहीं उन्हें तो कुछ नहीं हो गया। घबराहट में ही मैंने अधीर हो कर पूछ लिया,”क्या हुआ सर की माँ को? कब और कैसे हुआ?”

“माँ तो सकुशल थी। हेमलता किसी के प्यार ब्यार में थी। कहती थी कि शादी करेगी तो बस उस से ही। वह लड़का उस गाँव को छोडकर कहीं चला गया था। उसे भी नहीं पता कि वह लड़का कहाँ रहता है। कई बार कोशिश की उस लड़के को ढूँढने की पर उसका कोई पता ही नहीं चला। समय बितता गया। उस लड़के की प्रतीक्षा करते करते वह धीरे धीरे गुमसुम रहने लगी। उदास भी रहने लगी। बीमार सी हो गई। सर ने कई इलाज भी किए पर रोग जाने का नाम ही नहीं ले रहा था। प्यार का रोग जो था।” वह आगे बोलने लगी।

मेरे मन पर फिर से उस चंचल सी लड़की की छवि सवार हो गयी। मैं हेमलता के बारे में सोचना चाहता था पर वह बोले ही जा रही थी। कई यादें जुड़ी हुई थी उस लड़की के साथ मेरी। मैं उस याद में खो जाना चाहता था।

“जी, आपकी बात बड़ी ही रोचक है, पर क्या आप मुझे उस घर तक ले जा सकती हैं? कुछ देर तक मैं वहाँ जाना चाहता हूँ। फिर लौट के आकर पूरी बात सुनना चाहूँगा।”

मैं करीब नौ साल के बाद इस नगर में आया था। इस अंतराल में बहुत कुछ बदल चुका था इस नगर में। जाने पहचाने रास्ते कहीं खो गए थे। वो गलियां जिसमें बचपन दौड़ता था, खेलता था वह चौड़े रास्तों की आगोश में अपना अस्तित्व समर्पित कर चुकी थी।

कैसे बदल जाता है कोई नगर कुछ ही सालों में? क्यूँ बदल जाता है कोई नगर? क्या नगर की भी आदत है आदमी सी?

वह कुछ कदम मेरे साथ चली, दूर से ही सर के उस घर की तरफ हाथ फैलाकर बोली, “वही जो नीला दरवाजा दिख रहा है वह...।” मैं उस घर की और चल पड़ा। मुझे याद आ गया कि घर तो वही है, पर दरवाजे ने रंग बदल लिया है।

दरवाजा बंध था। मैंने बांये हाथ की दो उँगलियों से दस्तक दी, पूरी आठ बार। प्रतीक्षा करने लगा, दरवाजे के खुलने का, हेमलता के आने का, उसके स्मित का, बीच दरवाजे खड़ा होकर रास्ता रोकने का, फिर रास्ते से हटकर रास्ता देने का....।

कुछ पल इसी प्रतीक्षा में बीत गए, मैं वहीं खड़ा था।

“मैंने कहा था न, वहाँ अब कोई नहीं रहता। कोई दरवाजा नहीं खुलेगा।” वह स्त्री ने दूर से कहा। मैंने हाथ हिलाकर उसकी बात का समर्थन किया। वह दूर खड़ी मुझे निहारती रही।

घर का दूसरा दरवाजा पीछे भी था, मुझे पक्का याद था। पिछवाड़े में एक झूला भी था। मुझे झूला पसंद था। मुझे क्या, सब को पसंद था। मेरे जैसे कई बच्चे थे जिनके घर झूला नहीं हुआ करता था। वह सब सर को मिलने के बहाने, कुछ सीखने के बहाने आते थे पर हमें सीखने से ज्यादा उस झूले पर झूलने की धुन सवार रहती थी। वास्तव में तो झूला ही कारण था सर के घर तक जाने का।

जब जब मैं सर के पास बैठकर पढ़ाई करता था, तब तब हेमलता उस झूले पर बैठ कर झूला करती थी। और मैं पीछे वाले खुल्ले दरवाजे से पढ़ाई कम और झूले को ज्यादा निहारता था।

हेमलता का झूलना अच्छा लगता था। अब मुझे याद नहीं कि झूला ज्यादा पसंद था या झूले पर झूलती हेमलता।

याद ही नहीं कि पिछली बार कब मैं किसी झूले पर झूला था। मुझे तीव्र इच्छा हुई झूले पर झूलने की। मैं दौड़ा, पीछे की तरफ जाने को, झूले को देखने को, छुने को, और यदि थोड़ी सा भी साहस बचा हो तो उस पर सवार हो कर झूलने को।

दो कदम ही चला था कि मेरे कदम रुक गए। मैं चीख उठा। मेरे पाँव का कुछ हिस्सा कंटकों से उलझ गया, घायल हो गया। रक्त की कुछ बूंदें भी फुट आई, जैसे वह भी उतावली हो झूले पर झूलने को।

मैं रुक गया। पीछे की और जाने वाली उस पगडंडी को ढूँढने लगा। अनायास उग गए घास में वह कहीं खो गई थी। समय की कोई परत ने उसे अपने में समेट लिया था। मैंने याद करने का प्रयास किया, पर वह छोटा सा रास्ता याद नहीं आया।

हर तरफ उगे हुए थे घास, पत्ते और कहीं कहीं कंटक। लगता था कि उस पगडंडी पर से कोई गुजरा नहीं होगा, मुद्दतों से।

मैं भी तो नहीं गुजरा था यादों के इस रास्ते से, मुद्दतों से। उलझना तो होगा, घास से भी और कांटो से भी। पाँव की तरह मन और ह्रदय भी घायल तो होगा ही, छलनी भी होगा।

मैं छलनी तो हो ही चुका था, साहस जूटा कर किसी भी तरह से मैं झूले तक आ गया। झूला अभी भी वहीं टंगा हुआ था, मेरे मन में लटकती यादों की तरह।

झूला अनायास उगे जंगल से ग्रस्त था। कई लताएँ उस से लिपटी हुई थी, जैसे चन्दन के पेड़ को लिपटे हुए सर्प। लताएँ ऊपर तक उठी हुई थी, लिपटी हुई थी। झूले पर जहां हेमलता लिपटकर खड़ी रहती थी वहाँ आज अनेक लताएँ लिपटी हुई खड़ी थी।

हेमलता!

हेमलता भी तो एक लता ही थी। उसके नाम में ही लता है। अब लताएँ है, तब हेमलता थी। मेरे मन ने लता और हेमलता को जोड़ने का प्रयास किया।

मुझे उन लताओं में हेमलता नजर आने लगी। वह भी लता की तरह पतली सी थी, लंबी सी थी। वह भी झूले को इसी तरह लिपटकर रहती थी। कभी कभी तो ऐसे लगता था जैसे वह झूला उसकी अपनी संपत्ति हो, रियासत हो, साम्राज्य हो और उस पर केवल उसका ही अधिकार हो। चिपक कर ही रहती थी वह झूले से।

सहसा झूला हिलने लगा। लिपटी हुई सब लताएँ हेमलता बन गई। हेमलता ने बांये पैर के पंजे से जमीन को छुआ। मैं घबरा गया। कहीं उसका पाँव जमीन पर उगे कंटकों से न उलझ जाए! उसे रोकने के लिए मैं झूले की और दौड़ा। मैंने हाथ से उसे रोकने का संकेत भी दिया। पर वह कहाँ सुनने वाली थी। उसने धक्का दिया, झूला चल पड़ा। वह झूले पर झूलने लगी। मैं वहीं रुक गया।

मुझे आज भी हेमलता का झूलना अच्छा लगा। वह झूलती रही। ऊपर, नीचे और ऊपर, झूला गति करता रहा।

मैं झूले के सामने खड़ा था। झूला दूर जाता था और फिर समीप आ जाता था, साथ में हेमलता भी। जब जब झूला मेरी तरफ आता था, मुझे लगता था कि हेमलता झूले की गति को समझे बिना ही झूले से कूद जाएगी, अपना संतुलन खो बेठेगी और मैं झट से उसे जमीन पर गिरने से रोक लूँगा।

पर ऐसा हुआ नहीं। काश, ऐसा कुछ हो जाता!

झूले के झूलने से उत्पन्न होने वाली हवा मुझे छु रही थी, जैसे वह हवा मेरे तक हेमलता की सुगंध ले कर आती हो। मुझे सदैव लगता था कि हेमलता स्वयं ही सुगंध है। आज भी लगा। सारा जंगल उसकी सुगंध से भर गया। हवा, पत्ते, डाली, झूला, लताएँ, मिट्टी, आकाश ... सब कुछ सुगंधमय हो गया।

“यही झूला है जिस पर वह घंटों झूलती रहती थी। खोयी खोयी सी रहती थी। जैसे उसकी आँखें किसी की प्रतीक्षा कर रही हो। यह खिड़की देख रहे हो ना?” वह स्त्री खिड़की के पास गई और संकेत करते कहने लगी, “इधर आ जाओ।” मैं खिड़की के पास खड़ा हो गया, वह अंदर झाँकने लगी। मुझे भी अंदर झाँकने को कहा। उसने अपना एक हाथ खिड़की के अंदर डाला और एक कोने की तरफ निर्देश करने लगी।

“वह कोना दिख रहा है ना? झूले पर बैठी बैठी उसकी नजर बस उसी कोने पर टिकी रहती थी, शायद कोई वहाँ बैठा हो और वह उसे एक नजर से देख रही हो। शायद कोई लड़का उस कोने में बैठ कर पढ़ाई करता हो। तुम्हें पता है उस कोने में कौन बैठता था?” उसके इस सवाल ने मुझे घायल कर दिया। मैं उस कोने को जानता था। पर मैंने जवाब देना टाला। मैंने बात बदलनी चाही, बदल दी।

“कब से वह उस लड़के के प्रेम में थी?”

“हेमलता कहती थी कि जब वह नौ-दस साल की होगी तब से वह उसे चाहती थी।”

“नौ दस साल?”

“हाँ, कहती तो वह यही थी।”

“वह भी कोई उम्र होती है प्यार करने की? किसी को चाहने की?” मैंने आश्चर्य से पूछा।

“तुम क्या समझते हो? क्या जानते हो? प्यार की उम्र क्या होती है? किसी लड़की के प्यार के विषय में लड़के कभी जान नहीं पाते की लड़की के मन में क्या है?” उस स्त्री ने एक साथ कई सवाल कर दिये।

“मेरे हिसाब से तो लड़कियां जब पंद्रह सोलह वर्ष की होने लगती है तब प्यार करना ...।” मेरी बात को बीच में ही काट दिया उसने।

“नहीं। गुड्डा गुड्डी का जब से खेल खेलने लगती हैं, लड़कियां तब से किसी को चाहने लगती हैं। तुम्हें पता भी है कि लड़की किस उम्र में यह गुड्डा गुड्डी का खेल खेलना शुरू करती है?”

“नहीं पता।”

“चार पाँच साल की उम्र में ही वह यह खेल खेलने लगती है। और तब से ही वह किसी लड़के में अपने गुड्डे को देखने लगती है। उसे चाहने लगती है। और फिर सारी उम्र उसी को अपना गुड्डा मान लेती है। फिर शायद ही कोई दूसरा उसे पसंद आए।” वह रुकी, गहरी सांस ली, आकाश की तरफ एक नजर डाली और फिर बोलने लगी, “तुम जानते हो कौन बैठता था उस कोने में?”

फिर वही सवाल उसने मेरे सामने रख दिया। मैं मौन ही रहा। मेरे चहेरे पर विषाद के भाव थे, जो उसने पढ़ लिए थे।

“जब किसी की याद आती है न, तब कांटे पाँव में नहीं दिल में चुभते हैं। हेमलता के दिल में भी ऐसे ही कांटे चुभते रहे होंगे। उस काँटों से उसका दिल पूरा छलनी हूआ होगा।”

“फिर क्या हुआ हेमलता का?” मेरी जिज्ञाशा उछल पड़ी।

“बड़े लंबे अरसे बाद यहाँ आए लगते हो। समय समय पर उन रास्तों पर से भी गुजरा करो, जो कभी हरे भरे हुआ करते थे। मुद्दतों से हम जिस रास्ते से नहीं गुजरते वहाँ जंगल उग जाता है। एक वीरानी सी अपना साम्राज्य बना लेती है। मैंने कई बागों को ऐसे ही उजड़ते देखा है।” उनके शब्द मुझे फिर से छलनी कर गए।

मैंने फिर से पूछा, “फिर क्या हुआ हेमलता का? आपने मेरे सवाल का जवाब नहीं दिया?”

“तुमने भी तो मेरे सवाल का जवाब नहीं दिया। कौन उस कोने में...?” वह रुक गई। मेरी आँखों में देख कर मेरे दिल तक उतर गई।

मेरे होंठ मौन थे पर मेरी आँखें बोलती थी। वह मेरी आँखों को पढ़ लेती थी। मैंने मेरी पलकें झुका दी, शायद मेरी आँखों में बसी किताब के खुल्ले पन्ने बंध हो जाय और वह आगे ना पढ़ सके। किन्तु, मेरा खयाल गलत था। वह अब बंध किताब भी पढ़ लेती थी।

“हेमलता को लेकर चिंतन सर किसी शहर चले गए, शायद वहाँ उसका कोई इलाज मिल जाय। इस घर में तो उस लड़के की याद उसे बीमार ही रखती। मैं ही बता देती हूँ, उस कोने में कौन बैठता था। विनीत नाम था उसका। हेमलता उस विनीत से ही प्यार करती थी।” मेरा नाम सुनते ही मैं विचलित हो गया। मैं अपने आप को संभालने की व्यर्थ चेष्टा करता रहा।

“तुमने अभी तक अपना नाम नहीं बताया, विनीत।”

“आप को मेरा नाम कैसे पता चला?” मैं विस्मय सभर था।

“हेमलता नाम के इस पथ से मुद्दतों से कोई नहीं गुजरा। वीरान राहों से वास्ता रखने वाला और कौन हो सकता है, सिवा विनीत के? बड़े अरसे बाद तुम ने हेमलता में इतनी रुचि दिखाई तो झट से मेरी समझ में आ गया कि तुम ही वह कोने में बैठ कर पढ़ने वाले लड़के विनीत हो।”

मैं उसका नाम पुछने का साहस नहीं जूटा पाया।

मैंने आंखे मूँद ली। गहरी साँसे लेता रहा। समय गुजरता रहा।

मैंने जब आँखें खोली तो सामने कोई भी नहीं था, कुछ भी नहीं था।

ना वह घर, ना वह स्त्री, ना वह झूला और ना ही वह खिड़की।

था तो केवल एक रास्ता। मुद्दतों से मैं गुजरा नहीं था, इस रास्ते से।

सम्पन्न

23/03/2017

[6]

आज भी मैं

"माँ, मुझे कल सुबह छः बजे जागा देना।" बड़ी बहन ने कहा।

माँ ने पूछा, "ठीक है, इतनी जल्दी जाग कर क्या करोगी? तुम्हारा कॉलेज तो नौ बजे का होता है। रोज आठ बजे तो जागा देती हूँ न? आठ बजे जगा दूँ? पर कल तो रविवार है, हैं न?"

"माँ, कल सुबह सात बजे बस आ जाएगी। हमें कॉलेज से प्रवास में जाना है।"

"कितने घंटों का प्रवास है? तुम कब लौटोगी?"

"शाम हो जाएगी। अरे हाँ, याद आया। हमें सभी को अपना अपना भोजन साथ लेकर जाना है। तो मुझे कल पराठे और सब्जी बनाकर देना। साथ में दही भी।"

"क्या? कल सुबह जाना है, पराठे और सब्जी ले जाना है, साथ में दही भी? और यह बात तुम मुझको इतनी रात को बता रही हो? जानती हो रात के दस बज रहे हैं?"

'माँ, मैं भूल गई थी। आगे से ध्यान रखूंगी।" माँ कुछ नहीं बोली। दीदी सोने चली गई।

कुछ समय के बाद भैया आए।

"मुझे रोज की तरह सात बजे जागा देना।" और वे भी सोने को चले गए।

भैया को माँ रोज इसी समय जगाती थी। वे सुबह चले जाते थे संगीत सीखने।

बुआ ने आते ही कहा, "भाभी, कल मुझे जगाना मत। कल मैं देर तक सोना चाहती हूँ।" और बुआ भी चली गई।

बुआ वैसे तो कुछ नहीं करती थी, विवाह के लिए उचित वर की प्रतीक्षा के सिवा। माँ का हाथ बंटा देती थी कभी कभी छोटे मोटे कामों में। या कहो काम बढ़ा देती थी। माँ की लाड़ली जो थी।

बुआ रोज साढ़े छः बजे माँ के जगाने पर ही जागती थी। थोड़ा व्यायाम करती थी। पश्चात सूरज की धूप के नीचे बैठी रहती थी। जब मन करता तब नहा धो कर भगवान की पूजा अर्चना करती और रसोई में माँ से बातें करने चली जाती।

पिताजी ने भी सोने से पहले माँ को सूचित किया, "कल मुझे पाँच बजे जगा देना।"

"क्यों? कल तो रविवार है। छुट्टी है न? इतनी सुबह सुबह क्यों जागना है आपको?"

"कल सुबह साढ़े पाँच बजे फाइनल मेच है, ऑस्ट्रेलिया से। भारत का मेच है। किसके साथ है पता है?"

माँ को खेलों में रुचि थी या नहीं मैं नहीं जानता। यदि कभी रुचि रही भी होगी तो भी माँ के पास इतना समय ही कहाँ था कि वह उसे देख सके? माँ ने पिताजी के प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया।

“तुम क्या जानो? तुम्हें कहाँ रुचि है इन खेलों में? तुम्हें तो बस अपना घर, अपने बच्चे। कभी खेलों में भी रुचि लिया करो।”

माँ पिताजी के शब्दों को सुनती रही। उसने कोई प्रतिभाव नहीं दिया। किन्तु उनके मुख को देखकर लग रहा था कि उसके भीतर बहुत कुछ चल रहा था जिसे माँ ने होंठों तक आने से रोके रखा था।

“चलो मैं ही बता देता हूँ। कल भारत और पाकिस्तान का क्रिकेट मेच है। पड़ोस वाले कुणालभाई भी आएंगे मेच देखने। तुम हमारे लिए चाय के साथ कुछ गरम गरम नास्ता भी तैयार कर देना। भारत जब पाकिस्तान को पीट रहा होगा न तब गरम नास्ते के साथ चाय पीने का आनंद कुछ और हो होगा।”

“नास्ते के बाद कुछ ठंडा भी पीना होगा न?” माँ ने पूछा।

“वो तो पीना ही पड़ेगा। हाँ, मेच पूरे दिन तक चलेगा। कुणालभाई खाना भी यहीं खाएंगे। उनकी पत्नी अपने गाँव गई है।” कहते हुए पिताजी भी चले गए सोने के लिए।

माँ सभी काम पूरा कर सोने जा ही रही थी कि दादी ने माँ को बुलाया। मैं भी माँ के साथ दादी के पास गया।

“बहु, पैरों में पीड़ा हो रही है, थोड़ा पानी हल्दी डालकर गरम कर दो।” माँ ने वैसा ही किया।

“इसे अपने हाथों से यहाँ लगा देना, बहु।” माँ दादी के पैरों में गरम पानी लगाने लगी। कुछ ही क्षणों में दादी सो गई। मैं और माँ लौट आए।

माँ के पास अब केवल मैं ही था। माँ ने मुझे देखा, “तुम्हें कितने बजे जगाऊँ?”

मैं छोटा था। मैं न तो कॉलेज जाता था, न स्कूल। मुझे माँ के कहने का अर्थ समझ नहीं आया।

“तुम्हें क्यों जगाना है मुझे? तुम्हें कहाँ कहीं जाना है? तुम तो अपने आप ही जाग जाते हो, कभी भी।” कहती हुई माँ चली गई। माँ के शब्दों का अर्थ समझ सकूँ इतना बड़ा नहीं था मैं उस समय। मुझे कब नींद आ गई, मैं नहीं जानता।

सुबह मैं जागा तो देखा कि पिताजी टीवी पर पाकिस्तान के साथ भारत का क्रिकेट मेच देख रहे थे। गरम चाय, गरम नास्ता और पड़ोसी भी साथ थे।

दीदी प्रवास के लिए निकल चुकी थी।

भैया संगीत सीखने चले गए थे।

बुआ अभी भी सो रही थी।

और माँ?

माँ को ढूँढने मैं रसोईघर में चला गया। माँ वहीं थी। वह रसोई बनाने में व्यस्त थी। मैं लौट आया रसोई घर से।

आँगन में जाकर बैठ गया। मेरे अल्पमति मन से विचारने लगा-

‘माँ ने पिताजी को पाँच बजे जगाया होगा। छ: बजे दीदी को जगाया होगा। सात बजे भैया को जगाया होगा। बुआ को तो जगाया ही नहीं।

माँ को कैसे याद रहता होगा कि किसने कितने बजे जगाने को कहा था? सब को समय पर जगा दिया। सब अपने अपने काम पर लग गए।

हाँ, माँ ने सुबह सुबह दीदी के लिए गरम पराठे और सब्जी भी बनाई होगी। याद करके दही भी दे दिया होगा।

भैया को भी रोज की तरह नास्ता बनाकर खिलाया होगा। भैया नास्ते में पोहा ही खाते हैं।

और पिताजी के लिए भी तो गरम चाय, नास्ते में पकोड़े बनाकर दिए हैं।

दादी को भी उनकी कॉफी और दवाइयाँ भी माँ ही देती है। आज भी दिया ही होगा।

इतना सारा काम माँ ने अकेले ही कैसे किया होगा? बुआ भी नहीं जागी है।

वैसे तो अच्छा ही है कि बुआ जागी नहीं है। यदि बुआ भी जाग जाती तो वे माँ के कुछ काम थोड़ी न आती? उल्टा उनकी मांगें भी माँ को पूरी करनी पड़ती।

जागते ही रोज की भांति कहती, “मेरा पीने का गरम पानी तैयार रखना, नींबू डालकर। मैं आकर पी लूँगी।”

यह तो अच्छा है कि बुआ अपने हाथ से नींबू पानी पी लेती थी। नहीं तो माँ को उसे भी अपने हाथ से पिलाना पड़ता।

अपने विचारों को वहीं छोड़कर मैं पुन: रसोईघर में जाकर माँ के पास खड़ा हो गया।

“तुझे क्या दूँ? क्या खाओगे? पीओगे? दूध बना देती हूँ। तुम बैठो वहाँ। मैं अभी लाती हूँ।”

मैंने माँ की आँखों में देखा। मेरी अल्प आयु की अल्प मति में इतना तो आ गया कि माँ थकी हुई है फिर भी किसीके कुछ भी कहे बिना सबके लिए काम कर रही है।

मैं वहाँ खड़ा रहा। माँ फिर से बोली, “जा न बैठ वहाँ।”

मैं वहाँ चला गया। दूध लेकर माँ के आने की प्रतीक्षा करने लगा।

“ले। यह दूध पी लेना और पिताजी के पास मत जाना। वे मेच देख रहे हैं।”

मैंने माँ के हाथ से दूध का प्याला नहीं लिया।

“ले न अब। बहुत काम पड़ा है।” माँ ने दूध का प्याला रख दिया और जाने लगी। मैंने माँ की साड़ी का पालव पकड़ लिया। वह रुक गई, मुड़ी। माँ के मुख पर क्रोध था।

“छोड़ इसे। मुझे काम करने दे।”

माँ के क्रोध को देखकर मैं डर गया। कुछ न बोल सका। माँ के पालव को पकड़े रखा और बैठने को हाथ से संकेत किया।

“क्या है? बोल जल्दी।” माँ रुक गई। बैठ गई। मैं माँ की आँखों में देखने लगा। देखते देखते मेरा मन भर आया। सहसा मेरी आँखों से आँसू बहने लगे। इन आंसुओं को देखकर माँ का कठोर मुख कोमल हो गया।

“क्या हुआ मेरे लाल? रोता क्यों है?” माँ ने मेरे आँसू पोंछे, माथे पर हाथ फेरा। मैं शांत हो गया।

“क्या बात है? अच्छे बच्चे ऐसे रोते नहीं। तू तो मेरा लाड़ला है न?”

मैंने माँ का हाथ पकड़ लिया। “माँ ....।” इतना ही बोल पाया।

माँ मेरी पीठ पर हाथ फेरती रही। मुझे अच्छा लगा।
“माँ, तुम सब के लिए सब कुछ करती हो। थक नहीं जाती? तुमने कुछ खाया पिया?”
मेरे शब्द सुनकर माँ के मुख पर आँसू के साथ स्मित आ गया।
“माँ, तुम सबको जगा देती हो, सब के कहे हुए समय पर। तुम कब जागती हो? तुम्हें कौन जगाता है?”
माँ ने कुछ नहीं कहा। हँसकर वह चली गई। उसके मुख पर कोई थकान नहीं थी।
समय लंबी यात्रा करते हुए कहीं आगे निकल गया किन्तु आज भी मैं सोचता हूँ कि रोज रात को देर से सोने वाली माँ, सुबह कब जागती होगी? सब को जगानेवाली माँ को कौन जगाता होगा? या माँ कभी सोती ही नहीं होगी?
हाँ। यही होगा। जो सोता नहीं है उसको कौन जगा सकता है?

अस्तु ।
17/11/2025

[7]

रुदन

गाँव के पश्चिम छोर के किसी घर से एक तीव्र चीख जाग उठी। रात्री के अंधकार में विलीन होने से पूर्व सारे गाँव में घूम आई यह चीख। गाँव के एक एक जन के भीतर उतर गई। एक दो चीत्कार जन्मे और शांत हो गये।

सारा गाँव जाग रहा था। चौराहे पर ही बैठा था गाँव। कई दिनों से किसी के भी शरीर को निंद्रा परास्त नहीं कर सकती थी।

सभी ने वो चीख सुनी। चीख के पीछे उठे एक दो आक्रंद को भी सुना। सभी उस चीख को, उस आक्रंद को जानते थे। सब एक दूसरे को देखने लगे। कोई कुछ भी बोलने की स्थिति में नहीं था। लंबे समय तक सब के मध्य भीषण मौन घूमता रहा। उस मौन में निहित भय सब का परिचित था। उसी भय के कारण ही सब मौन थे। उस मौन को भंग करे कौन? किसमें इतना साहस शेष बचा था?

कुछ समय पश्चात एक लड़की बोली, “दादा, उस घर में से क्यों दो ही चीत्कार सुनाई दिए?”

गाँव के वयोवृद्ध सब के बिचों बीच बैठे थे। लड़की का प्रश्न सुन दादा कुछ बोल न सके। लड़की ने प्रश्न दोहराया। दादा अभी भी निरुत्तर रहे। लड़की ने एक एक कर सबसे यही प्रश्न किया। किन्तु उत्तर देने का साहस कोई न कर सका।

अंत में एक लड़के ने लड़की के प्रश्न के उत्तर में उसी से प्रश्न कर दिया, “तु जानती है चीत्कार वाला घर किसका है?”

“नहीं।“ लड़की ने कहा।

लंबे मौन के भंग होने पर दो चार लोगों के सांस मे सांस आई। वे बोले, “उस घर में मरने वाले के पीछे कोई नहीं बचा जो चीत्कार कर सके।”

“हम सब तो बचे हैं न? हम रो नहीं सकते? हम चीत्कार नहीं कर सकते?” वह लड़की मुक्त मन से रोने लगी। उसके साथ सभी स्त्रियां भी रोने लगी। एक स्त्री ने उस लड़की को अपने पालव में छिपा लिया। दोनों एक दूसरे को रोने में साथ देने लगे। बाकी सब ने भी अपने अपने हिस्से का रोना रो लिया। लड़की और वह स्त्री रोते रोते थक गई तब किसी स्त्री ने कहा, “तेरी माँ…।” और वह फिर से रोने लगी। लड़की दौड़ कर घर की ओर भागी। जाते हुए उसे सब देखते रहे।

“दादा, अब तो गाँव में लकड़ी भी नहीं बची। उसके लिए कैसे व्यवस्था होगी?”

“व्यवस्था तो करनी पड़ेगी। देह तो जलानी पड़ेगी ही न?”

“पास के गाँव में जाकर देखें, कुछ मिल जाए।”

“सभी गांवों में यही हालत है भाई, कोई गाँव नहीं बचा। सभी गाँव में लोग रोज मर रहे हैं। कौन जाने कैसी विपदा आ पड़ी है मानव जात पर?”

“हमारे गाँव मे इसे मिलकर कितनी हुई होगी, दादा?”

“अब तो गिनती भी नहीं हो रही है। गिनकर क्या होगा? सब को जाना ही है। आज नहीं तो कल। आज वह तो कल मैं। यह सारा संसार मरने वाला है। कोई नहीं बचेगा।”

“सुना है सारे प्रदेश में लोग मर रहे हैं। पूरे देश में हजारों लोग मर चुके हैं। और रोज रोज मर भी रहे हैं।”

“देहों को नदी में, समुद्र में फेंका जा रहा है। यह बात सच है क्या?”

“हाँ। सभी देसों में यही हो रहा है। बड़ा भयंकर रोग है यह।”

“कैसा है यह रोग? या दैव रूठा है? सारे जग को नष्ट करने का विचार लगता है।।”

“ऐसे तो धरती रसाताल चली जाएगी।”

“जानते हुए भी हम विवश हैं। हम क्या कर सकते हैं?”

“हम में से जो बचे वह मरनेवाले का क्रिया कर्म करता रहे। हमारे लिए अब बस यही बचा है।”

“किन्तु दादा, जो सबसे अंत में मरेगा उसका क्रिया कर्म कौन करेगा?”

“मैं नहीं जानता। वह तो ईश्वर ही जाने।” दादा ने लंबी सांस ली।

“वो सब बाद में सोचेंगे। अभी जो गया उसके लिए लकड़ियों का क्या होगा?” किसी ने प्रश्न किया।

पुन: सभी मौन! सभी के मन में अपने आनेवाले मृत्यु से भी अधिक चिंता उस लड़की की मृत माँ के अंतिम संस्कार के लिए लकड़ी की चिंता होने लगी।

“दादा, सुखी लकड़ियाँ तो सभी पूरी हो चुकी हैं। कोई सूखा पेड़ नहीं बचा। तो अब हरे पेड़ की लकड़ियाँ काट लाएं?” दूसरे ने प्रस्ताव रखा।

“हरी लकड़ियाँ?” बोलते ही दादा गहन विचार करने लगे। कुछ समय तक सभी दादा के बोलने की प्रतीक्षा करने लगे किन्तु दादा कुछ बोल न सके।

“दादा, कुछ कहो न। हरी लकड़ियाँ काट लाएं?”

“हरी कौन काटता है? पाप लगता है। दैव इतना तो रूठा है, अब हरी लकड़ियाँ काटेंगे तो क्या क्या हो जाएगा?” बोलते बोलते दादा के मुख पर भय छा गया।

“आप मृत्यु से डर गए? आपने तो लंबी जिंदगी जी ली है, दादा।”

“ना, मैं मेरी मृत्यु से भयभीत नहीं हूँ। सत्य है कि मैंने अपनी जिंदगी खूब जी ली है। किन्तु आप सब को अभी बहुत जीना बाकी है। मुझे आप सब की मृत्यु का भय है। मैं तो ठहरा सुखी लकड़ी। हरी लकड़ियाँ जले उसका भय है।” दादा ने कहा।

“जो मरे हैं वे सब भी कहाँ पूरा जीवन जी सके थे? जैसी उसकी इच्छा।” दूसरे वृद्ध ने नि:स्वास छोडा।

“वो सब छोड़ो। अभी तो लकड़ियों का कुछ करो। हरी तो हरी, लकड़ियाँ तो हैं न?”
“हरी लकड़ियों से भी जलाना तो पड़ेगा ही। रख तो नहीं सकते न?”
“हम नदी में बहा दें तो?” किसी ने सुझाव दिया।
“हम ऐसा नहीं कर सकते। नदी तो हमारी जीवन दायिनी है। उसमे देह थोड़ी डाली जाती है? नहीं, भाई नहीं।”
“किन्तु वहाँ तो वे लोग ऐसा ही करते हैं। हमें भी...।”
“हम ऐसा नहीं कर सकते। हम ऐसा नहीं करेंगे। कभी नहीं।”

“तो हरी लकड़ियों के उपरांत कोई विकल्प नहीं है।”
“ठीक है। काट लो हरी लकड़ियाँ। किन्तु अभी नहीं। प्रभात होने दो। धूप में कदाचित कोई सूखा पेड़ मिल जाए।” दादा की बात पर सब सहमत हुए। सूरज निकलने की प्रतीक्षा करने लगे, जिसमें अभी अधिक समय था। जैसे तैसे दो प्रहर बीत गए।
“अब आधे प्रहर बाद उषा होने लगेगी। तब हम पेड़ काटने लगेंगे।”
“ठीक है। किन्तु देखो, ये दो प्रहर बित गए तथापि कोई नई चीख, कोई नया चीत्कार नहीं सुना हमने।” किसी ने सभी का उत्साह बनाये रखने के लिए कहा।
“हाँ, हाँ। तू सही कह रहा है। कितने दिनों बाद आज की रात केवल एक ही मृत्यु हुई है।”
सब ने मन ही मन संतोष अनुभव किया। पुन: सब मौन हो गए। पुन: शांति छा गई।
उस शांति में दूर दूर से कोई स्वर सुनाई दिया।
“सुनो, तुम्हें कुछ सुनाई डे रहा है?”
सभी ने कानों को जागृत किया।
“हाँ, किसी के रोने की धीमी धीमी ध्वनि है कदाचित।”
“रोने की ध्वनि है या दबी हुई चीख?”
“मैं नहीं जानता।”
“कोई उस दिशा में जाओ। देखो यह कैसी ध्वनि है?”
“ये ध्वनि पूर्व दिशा की गली से आ रही है।
“जा। शीघ्र जा। जान ले कि क्या हुआ है। हो सकता है दो देहों के लिए लकड़ी काटनी पड़े।”
उन शब्दों ने सभी के मन को चीर डाला। जो जाग रहे थे वे सावध हो गए। जो अर्ध जागृत थे वे पूरे पूरे जाग गए। सभी दृष्टि पूर्व की गली की तरफ अधिराई, आतुरता और आशंका से खींच गई।
एक व्यक्ति पूर्व की गली की ओर गया।
अधिक समय बीत गया किन्तु वो गया हुआ नहीं लौटा। भोर होने में शेष था वह आधा प्रहर भी बीत गया। प्रतीक्षा में खींची हुई आँखें और कंठ भी थक गए।
पूर्व दिशा से आ रही ध्वनि अब तीव्र होने लगी।

“यह कैसी ध्वनि है? कुछ समज नहीं आ रहा?”

“कैसे समज आएगा? वहाँ कोलाहल ही इतना हो रहा है।”

“इतने दिनों से सुन रहे हैं उससे यह भिन्न ध्वनि है।”

“तभी तो समज नहीं आ रही है। कितनी अपरिचित ध्वनि है।”

“किन्तु जो समजने गया था वह अब तक लौटा क्यों नहीं?”

पुन: सभी उस दिशा में देखने लगे। किन्तु उसके आने का कोई संकेत नहीं था।

धीरे धीरे प्रकाश बढ़ने लगा। एक दूसरे का मुख दिखने लगा। किसी वृक्ष से कोई पंखी बोला। उसके उत्तर में सभी पंखी बोलने लगे।

“एक तो वह कोलाहल और अब ये पंखियों का शोर? कुछ ...।”

“कोई वहाँ जाकर आओ।” दादा ने कहा।

सभी एक दूसरे को देखने लगे। कोई वहाँ जाने को तैयार नहीं था। सभी परिचित भय से ग्रस्त थे। कोई नहीं उठा जाने को।

पंखियों की ध्वनि बढ़ने लगी। वो कोलाहल भी तीव्र हो गया। पंखियों की ध्वनि में कोलाहल घुलने लगा। ध्वनियों के मिश्रण के साथ पूर्व में लालिमा दिखने लगी। पंखियों का कलरव मंद होने लगा। लकड़ी काटने को दो चार लोग पेड़ पर चड गए। उस पेड़ पर किसी ने नई फूटी कली को देखा।

“देख ना, कितनी कोमल है। आज ही फूटी होगी।”

“लगता है अभी अभी फूटी है। इसे काटने को जी कैसे करेगा?”

“किन्तु हमें तो काटनी ही पड़ेगी। जी को कठोर करना ही पड़ेगा।”

“इतने सब चले गए फिर भी हम जी रहे हैं न? इससे अधिक कठोर जी कैसा हो सकता है?”

“तुझे काटनी हो तो काट। मैं नहीं काटूँगा।”

“मैं तो कटूँगा।” उसने एक डाली पर दो घाव मार दिए। तभी पूर्व दिशा का कोलाहल शांत हो गया। वहाँ से रोने की ध्वनि आने लगी। सभी के कान उस तरफ स्वत: खींच गए।

रुदन स्पष्ट होने लगा। सभी को वह सुनाई देने लगा। सभी जहां थे वहीं ठहर गए। ध्यान से उस रुदन को सुनने लगे।

वह रुदन रोज के रुदन से भिन्न था। दादा ने उस रुदन को परख लिया। दादा की आँखों में हर्ष के अश्रु उभर आये।

दादा चिल्लाए, “हरे पेड़ को काटना नहीं।”

सभी रोते रोते हंस रहे थे। सभी पूर्व दिशा की ओर भागे। कई दिनों के पश्चात वह रुदन सभी को भाने लगा।

अस्तु 23/04/2024

[8]

यायावर

“क्या हम यह पानी पी सकते हैं?”

झरने के बहते पानी की ध्वनि में मैंने उसके अस्पष्ट से ये शब्द सुने। पानी पीने के लिए बढ़ी मेरी हथेली वहीं रुक गई। मैंने शब्दों की दिशा में देखा।

नगरवासी लग रही एक युवती को सामने देखा। वह मुझे ही निहार रही थी। मैंने जैसे उस पर ध्यान दिया, उसने अपने शब्दों को दोहराया, “क्या हम यह पानी पी सकते हैं?”

झरने को छोड़ मैं उसकी तरफ बढ़ा। मेरी हथेली का सारा पानी बह गया। खाली हथेली के साथ मैं उसके समीप जा पहुँचा।

मैं उसे देखने लगा, ऊपर से नीचे तक। उसने मेरी आँखों में देखा। कुछ सहम सी गई वह।

“कौन हो तुम? यात्रिक?” मैंने प्रश्न किया।

“हाँ, मैं यात्रिक हूँ। क्यूँ ऐसा पूछते हो?” वह बोली।

“यात्रिक ही ऐसे प्रश्न करते हैं।”

“कैसे प्रश्न?”

“झरने के पानी के विषय में जो प्रश्न तुमने अभी अभी किया था।”

“जितना भी पानी मैं साथ लेकर चली थी, सब पूरा हो गया। एक बूंद भी शेष नहीं बची। पहाड़ों पर कौन जाने क्यूँ प्यास अधिक लगती है। देखो ना प्यास से मैं पीड़ित हूँ और प्रतीत हो रहा है कि मार्ग अभी बहुत लंबा....।”

“वैसे तुम्हें जाना कहाँ है?”

“वो मैं बाद में बताऊँगी। पहले पानी का कुछ करो। प्यास से कंठ सुख रहा है।”

“तो जाओ, इस झरने का पानी पी लो।”

“और आगे की यात्रा के लिए इस बोतल में भर सकती हूँ क्या?”

“नहीं। इसकी कोई आवश्यकता नहीं है।”

“क्यों? मार्ग में प्यास तो लगेगी ही न?”

“मार्ग में प्यास तो लगनी ही है किन्तु तुम चिंता मत करो। मार्ग में असंख्य झरने बह रहे हैं। किसी का भी पानी पी लेना।”

“ठीक है।” वह झरने के समीप गई, हथेली भर भर कर पानी पीने लगी।

‘लगता है कई दिनों की प्यासी होगी।’ मैं मन ही मन में बोला।

उसने खूब पानी पिया, हाथ - पैर - मुंह भी धोए और मार्ग पर लौट आई।

“तुम इस पगडंडी से चलकर यहाँ आई हो ना?”

“हाँ। क्यों?”

“इस पगडंडी पर इतने सारे झरने बह रहे हैं जो तुमने देखे भी होंगे ही। किन्तु तुमने किसी का भी पानी नहीं पिया?”

“तुम यह सब कैसे जानते हो?”

“यदि मार्ग के झरनों से पानी पिया होता तो तुम इतनी प्यासी नहीं होती।”

“हाँ, तुम ठीक कह रहे हो। मैंने पानी नहीं पिया।”

“क्यों?”

“क्यों कि मन में संदेह था कि …।”

“कि पानी शुद्ध होगा या नहीं। इसे पीने से कहीं बीमार तो नहीं पड जाऊँगी?”

“हाँ, हाँ। मन में यही बात थी।”

“इसका अर्थ है कि तुम यात्रिक ही हो।”

“यह तो सीधी सी बात है कि इस मार्ग पर चलने वाली व्यक्ति यात्रिक ही होगी। और मैं पहले भी यह बात कह चुकी हूँ। किन्तु तुम कौन हो? क्या तुम यात्रिक नहीं हो?”

“नहीं। मैं भी कभी था यात्रिक, अब नहीं हूँ।”

“क्या अभिप्राय है तुम्हारा?”

“क्या तुमने मेरे साथ किसी श्वान को चलते हुए देखा?”

“श्वान? श्वान से तुम्हारा तात्पर्य कुत्ता ही है न? मैंने कोई कुत्ता नहीं देखा।”

“किन्तु तुम्हारे साथ साथ एक श्वान भी इस मार्ग पर चल रहा है।”

“नहीं तो? कोई कुत्ता मेरे साथ नहीं है।” वह घूम कर चारों तरफ देखने लगी। उसने एक श्वान को देखा।

“अरे यह कब से मेरे साथ चल रहा है? मुझे कुछ ध्यान ही नहीं रहा।”

“पहाड़ों पर जब कोई यात्रिक आता है तो उसके साथ साथ श्वान भी चलने लगता है।”

“क्यों? और कहाँ से आते हैं श्वान?”

“कोई नहीं जानता कि श्वान कहाँ से आता है, क्यों आता है। किन्तु यह सत्य है कि पहाड़ों की पगदंडियों पर यात्रिकों के साथ एक श्वान अवश्य चलता रहता है।”

“तो तुम्हारे साथ श्वान कहाँ है?”

“मेरे साथ श्वान नहीं होगा। कभी नहीं। क्यों कि मैं यात्री नहीं हूँ।”

“क्या तुम यहीं कहीं इन पहाड़ियों में निवास करते हो?”

“नहीं। मैं यहाँ नहीं रहता।”

“तो कहाँ….?”

“जहां ऐसे मार्ग। ऐसी पगडंडियाँ जाती हैं, मैं वहाँ जाया करता हूँ।”

“इसे ही तो यात्रिक कहते हैं। तुम यात्रिक ही हो। यात्रिक होने से तुमने माना क्यों किया?”
“मैं अब भी कहता हूँ कि मैं यात्रिक नहीं हूँ।”
“तो हो कौन तुम?”
“मैं यायावर हूँ।”
“यायावर?” उसके मुख पर अस्पष्ट से अनेक भाव उभर आए।
“हाँ। यायावर।”
“यायावर क्या होता है? कैसा होता है?”
“क्या होता है उसका उत्तर बड़ा लंबा है। कैसा होता है उसका उत्तर सीधा, सरल है।”
“तो वह बात दो।”
“मेरे जैसा होता है यायावर।” मैंने कहा। मेरे कहते ही उसने अपना पूरा ध्यान मेरी तरफ लगा दिया। वह मुझे ध्यान से, ऊपर से नीचे तक देखने लगी।
‘यह तो एक सामान्य कद का, सामान्य शरीरवाला एक व्यक्ति है। मुख पर कुछ समय की बढ़ी हुई दाढ़ी है। रंग न गोरा, न काला। बढ़े हुए और बिखरे हुए बाल। आँखों पर चश्मा। जींस का पेंट, ऊपर टी शर्ट और ठंड से बचने के लिए एक गरम कपड़ा। पीठ पर एक झोला। एक हाथ में लंबी सी छत्री, दूसरे हाथ में अध खुली एक पुस्तक जिसके पन्नों के भीतर उसके हाथ की उँगलियाँ।’ वह मुझे देखे जा रही थी और अकेली ही बोले जा रही थी।
पुस्तक को देखकर उसने उसका नाम पढ़ना चाहा, किन्तु पढ़ ना सकी। कैसे पढ़ सकती? पुस्तक का मुख पृष्ठ तो मेरी छाती से लगा हुआ था।
“कौन सी किताब पढ़ रहे हो?” उसने रुचि प्रकट की।
‘पढ़ने वालों की उत्सुकता पुस्तक देखते ही स्वत: प्रकट हो जाती है। पुस्तक का नाम, सर्जक का नाम, पुस्तक का विषय, पुस्तक कैसी है आदि की जिज्ञासा भी शीघ्र ही प्रकट हो जाती है।’
मैंने उसकी आँखों में और उसके प्रश्न में यह सब बातें देख ली। मैंने पुस्तक को पलटा, मुख पृष्ठ उसकी तरफ कर दिया। उसने पढ़ने का प्रयास किया, किन्तु विफल रही।
“इसमें तो कोई नाम नहीं दिख रहा। क्या नाम है इसका?”
“कोई नाम नहीं है इसका।”
“क्यों?”
“क्यों कि यह छपा हुआ पुस्तक नहीं है।”
“क्या है यह?”
“यह नोट बुक है। जो अभी पूरी लिखी नहीं गई है।”
“तो तुम लिखते भी हो? क्या लिखट्टे हो इसमें?”
“क्या सभी बातें यहीं करनी है या तुम्हें कहीं जाना भी है?”
“मेरी बात को बड़ी सरलता से काट दी तुमने।”

“नहीं, ऐसा नहीं है। मैं तो जानना चाहता हूँ कि इस पहाड़ी पर, इस ठंड में तुम अकेली कहाँ जाना चाहती हो।”

“कुछ दूरी पर, इस मार्ग पर एक योगी जी से मिलने जा रही हूँ।”

“एक काम करते हैं। चलो, चलते जाते हैं। मार्ग में बातें करते रहेंगे। बातें भी होगी और मार्ग भी कट जाएगा। चलें?” मैं चलने लगा। वह भी साथ साथ चलने लगी। थोड़ा चलने पर मैंने पूछा।

“कौन योगी? क्या नाम है उसका?”

“नाम तो ...?”

“यह हिमालय है। यहाँ के कण कण में योगी, ऋषि, मुनि बसते हैं। तुम्हें किससे मिलना है?”

“उस योगी का नाम तो नहीं जानती। किन्तु इसी मार्ग पर किसी गुफा में वे रहते हैं। नीचे के गाँव वालों ने मुझे यही बताया है।”

“तुम जानती हो वे कितनी दूरी पर रहते हैं?”

“नहीं। तुम जानते हो किसी योगी को?”

“हाँ। इस मार्ग पर एक मौनी योगी रहते हैं। क्या तुम उसी की बात कर रही हो?”

“कदाचित।” उसने कहा और गहरी सांस ली।

“कितनी दूरी पर हैं वे योगी। कितना समय लगेगा वहाँ पहुंचाने में?”

“पहाड़ों के मार्ग समय के मापदंडों से नहीं नापे जाते।”

“ऐसा क्यों?”

“पहाड़ों के बड़े बड़े मार्ग भी कभी कहीं जाकर पगडंडीयां बन जाते हैं। यदि मार्ग में चट्टानें आ गई तो घूमकर जाना पड़ता है।”

“कितना घूमकर?”

“कुछ कह नहीं सकते।”

“तो बताओ कि पहाड़ों के मार्ग कैसे नापे जाते हैं?”

“हमारे चरणों से।”

“वह कैसे? कुछ समझ में नहीं आया।”

“हमारे चरण जितना चल दिए बस उतना ही नाप होता है पहाड़ी मार्गों का।”

“तुम पहाड़ों के विषय में बहुत कुछ जानते हो।”

“हाँ। यायावर जो हूँ मैं।”

“यायावर! अरे हाँ, तुमने यायावर के विषय में तो कुछ बताया ही नहीं।”

“मैं बता दूंगा तो तुम भी यायावर बन जाओगी, मेरी भांति।”

“ओ..ह। ऐसा क्या? यदि इतनी रसप्रद बात है तो मैं अवश्य सुनूँगी। कहो।”

वह उत्सुक थी किन्तु मैं कहीं खो गया, विचारों में। मेरे चरण पगडंडी पर चल रहे थे किन्तु मैं कहीं और था। मैं मौन चल रहा था। और वह प्रतीक्षा कर रही थी मेरी बातों की।

“अरे ओ यायावर, कहाँ खो गए तुम?”

मैं विचारों से लौट आया।

“यायावर की बात कहनी थी तुम्हें।” उसने स्मरण कराया।

मैं स्मरणों को पीछे छोड़ कहने लगा, “पहले तो मैं भी यात्रिक ही था, तुम्हारी तरह। प्रत्येक यायावर प्रथम तो यात्रिक ही होता है।”

“वह यायावर कैसे बन जाता है?”

“यात्रिक शब्द पर ध्यान दो।”

“क्या है इस शब्द में?”

“यात्रिक शब्द में ‘या’ शब्द कहाँ से आया है जानती हो?”

“नहीं जानती।”

“स्त्रियां, तुम्हारे जैसी नहीं, कहती है कि यात्रिक में ‘या’ यातना से नहीं ‘याद’ से आया है।”

“मेरी जैसी नहीं? तो कैसी स्त्रियां कहती है कि यात्रिक में ‘याद’ से ‘या’ आया है?”

“वही स्त्रियां जो यात्रा कर चुकी है।”

“यात्रा तो मैं भी कर रही हूँ।”

“तुम जब यात्रा पूरी कर लोगी और घर लौट जाओगी तब तुम भी यही कहोगी कि यात्रा में याद से ‘या’ आया है, यातना से नहीं।”

“ओ......ह। यह बात है?”

“और क्या?”

“ठीक है। किन्तु यात्रा में ‘या’ का याद से आने का तात्पर्य क्या है?”

“है, तात्पर्य है। अभी तो हमने केवल ‘या’ की ही बात की है। अब तुम्हें यात्रिक शब्द के दूसरे भाग को देखना होगा। क्या है वह, कहो।”

“यात्रिक, या और त्रिक?”

“हाँ। त्रिक अर्थात तीन। यात्रिक अपने साथ तीन प्रकार की यादें लेकर लौटता है।”

“तीन यादें? कौन कौन सी?”

“एक तो उस स्थान की जिसे यात्रिक देखकर आया है।”

“हाँ। यह तो है। उस स्थान की यादें कोई कैसे भूल सकता है। और दूसरी?”

“दूसरी याद उन क्षणों की जो यात्रिक ने यात्रा के साथ जिए हैं।”

“वह उन क्षणों को कभी नहीं भूल सकता। वे क्षण अद्भुत होते हैं। अमूल्य होते हैं। कोई उसे चाह कर भी नहीं भूल सकता।”

“यही तो। तुम्हें भी यह स्थान, यह क्षण सदैव याद आते रहेंगे।”

सहसा वह रुक गई। उसने मुड़कर देखा। मैंने उसकी आँखों में देखा। वह आँखें किसीको ढूंढ रही थी।

“क्या हुआ? क्यों रुक गई?” मैंने पूछा।

“वह..?”

“वह क्या?”

“वह श्वान जो हमारे साथ चल रहा था वह कहाँ गया?”

“वह तुम्हारे साथ था, मेरे नहीं।”

“जो भी हो, किन्तु वह हैं कहाँ?”

“वह लौट गया।”

“वह लौट गया? और तुम इतनी सहजता से कह रहे हो जैसे कुछ हुआ ही नहीं।” वह सहज नहीं थी।

मैंने कुछ नहीं कहा।

“तुम जानते हो, हमारा एक सहयात्री कहीं खो गया है और तुम?” वह चिल्लाई।

“शांत हो जाओ। यह सहज बात है। पहाड़ों पर साथ चलने वाले श्वान अपनी इच्छा से आते हैं, अपनी इच्छा से लौट जाते हैं।”

“कहाँ लौट जाते हैं?”

“जैसे वे कहाँ से आते हैं, क्यों आते हैं? यह कोई नहीं जानता वैसे ही वे कहाँ चले जाते हैं, क्यों चले जाते हैं, कब चले जाते हैं? कोई नहीं जानता। बस, वे आते हैं, कुछ समय साथ चलते हैं और चले जाते हैं।”

वह मुझे अनिमेष देखती रही, जैसे मेरी बात से वह असहमत हो। मैं चलने लगा, उसे वहीं छोड़कर। वह भी पीछे पीछे चलने लगी। दोनों चलते रहे, कोई कुछ नहीं बोल रहा था।

एक स्थान पर रुकी वह, झरने से पानी पिया और निकट आकर बोली, “तीसरी याद?”

“यह जो तीसरी याद है वही यात्रिक को यायावर बना देती है।” मैंने उत्तर दिया।

मैं क्षणभर रुका, मेरे चरण भी।

उसने कहा, “कहो ना, रुक क्यों गए?”

“वहाँ देखो। वो गुफा दिख रही है?”

“हाँ, दिख रही है।”

“वहीं एक योगी निवास करते हैं। कहीं तुम उनसे मिलने को तो नहीं आई?”

उसने गुफा को ध्यान से देखा।

‘गाँव वालों ने बताया था वैसी ही है यह गुफा।‘ उसने स्वयं को आश्वस्त किया।

“हाँ, मुझे लगता है कि मुझे यहीं आना था।”

“तुम्हें पूरा विश्वास है कि तुम यहीं ही आना चाहती थी?”

“हां। क्यों?”

मैं हंसा।

“हंस क्यों रहे हो?”

“सुनोगी तो तुम भी हँसोगी।”

“तो सुन दो। मैं भी हँसना चाहती हूँ।”

“उस गुफा में कोई योगी नहीं रहते। वहाँ तो ....।”

“योगिनी रहती है। हैं न?”

मैं चौंक गया। वह मेरे मुख को, मुख के भावों को देखने लगी।

“क्या तुम जानती थी कि वहाँ योगिनी रहती है, योगी नहीं?”

“हाँ, जानती थी। गाँव वालों ने मुझे बताया था।”

मैं उसे देखता रहा।

‘वैसे तो यह स्त्री है तो भी इसके भीतर यह बात अभी तक छिपी कैसे रह सकी?’

“क्या सोच रहे हो, यायावर?” उसने पूछा।

“कुछ नहीं।” मैंने कहा और मैंने मेरी दृष्टि उस पर से हटा ली।

“तुमने उस तीसरी याद की बात नहीं कही।”

“हाँ। मैं कहीं उलझ गया था उसमें भूल गया।”

“यदि उस उलझन से निकल चुके हो तो कहो तीसरी याद क्या होती है?”

उसके पूछने पर मैं कुछ स्मरणों में खो गया। स्मरण मुझे अपने भीतर गम कर डे उससे पूर्व ही मैंने उन स्मरणों को हटा दिया।

“तीसरी याद..., उस एक व्यक्ति की होती है जो यात्रा में मिल जाती है, सहसा।”

“व्यक्ति?” उसकी आँखों में चमक थी।

“समय की धारा में यात्रिक उन स्थानों को, उन क्षणों को भूल भी जाता है किन्तु भूल नहीं पाता है उस व्यक्ति को।”

“तो क्या?”

“फिर उस अज्ञात व्यक्ति को यात्रिक खोजता रहता है जीवनभर !

नगरों में, भवनों में, मार्गों में, नदियों में, पहाड़ों में, झरनों में, समुद्र में, मंदिरों में, अज्ञात पगडंडियों में।

वह हर उस स्थान में खोजता रहता है जहां उसके होने की संभावनाएं होती हैं, अपेक्षाएं होती हैं।

इस प्रकार खोजते खोजते एक दिन यात्रिक बन जाता है यायावर !”

मैं सब कुछ कह चुका। मौन हो गया। वह मुझे देखने लगी, देखती रही। कदाचित वह मुझ में कुछ खोज रही थी।

कुछ समय मुझे देखने के पपश्चात बोली, “तो तुम यायावर हो?”

मैंने पलकों से उसे उत्तर दिया।

“तुम किसकी खोज में यायावर बनकर घूम रहे हो?”

उसके इस प्रश्न का कोई उत्तर मेरे पास नहीं था या हो सकता है कि मैं उसका उत्तर देना नहीं चाहता था। मैंने कुछ क्षण विचार किया। उसने उन क्षणों तक मेरी प्रतीक्षा की। जब मैं मौन ही रहा तो उसने पुन: पूछा।

"कौन है वह व्यक्ति जिसने तुम्हें यात्रिक से यायावर बना दिया है?"

मैंने दूर गुफा को देखा।

"उस गुफा को देखो।" मैंने कहा। वह देखने लगी।

"क्या वह योगिनी वहीं होगी?"

उसने पूछा। उसे कोई उत्तर नहीं मिल। उसने मुड़कर देखा।

मैं वहाँ नहीं था।

उसने प्रत्येक दिशा में देखा किन्तु मैं उसे कहीं नहीं मिला।

"अभी अभी तो वह यहाँ था। कहाँ चला गया?"

लंबे समय तक वह मुझे खोजती रही किन्तु मैं उसे नहीं मिला।

"कौन था वह?" उसने स्वयं से पूछा।

"जो भी था, था तो यायावर। बडा रोचक यायावर था वह।"

स्वयं से बातें करती हुई वह मुझे खोज रही होगी नगरों में, भवनों में, मार्गों में, नदियों में, पहाड़ों में, झरनों में, समुद्र में, मंदिरों में, अज्ञात पगडंडियों में।

न जाने कहाँ कहाँ वह घूम रही होगी। कहीं वह यात्रिक से यायावर तो नहीं बन गई होगी?

सम्पन्न

13/11/2025

कुछ भी नहीं

[कहानी संग्रह]

व्रजेश दवे



प्रकाशक-

व्रजेश दवे

कर्णावती

गुजरात

भारत 380052

91 95108 45218

Dave.vrajesh@gmail.com